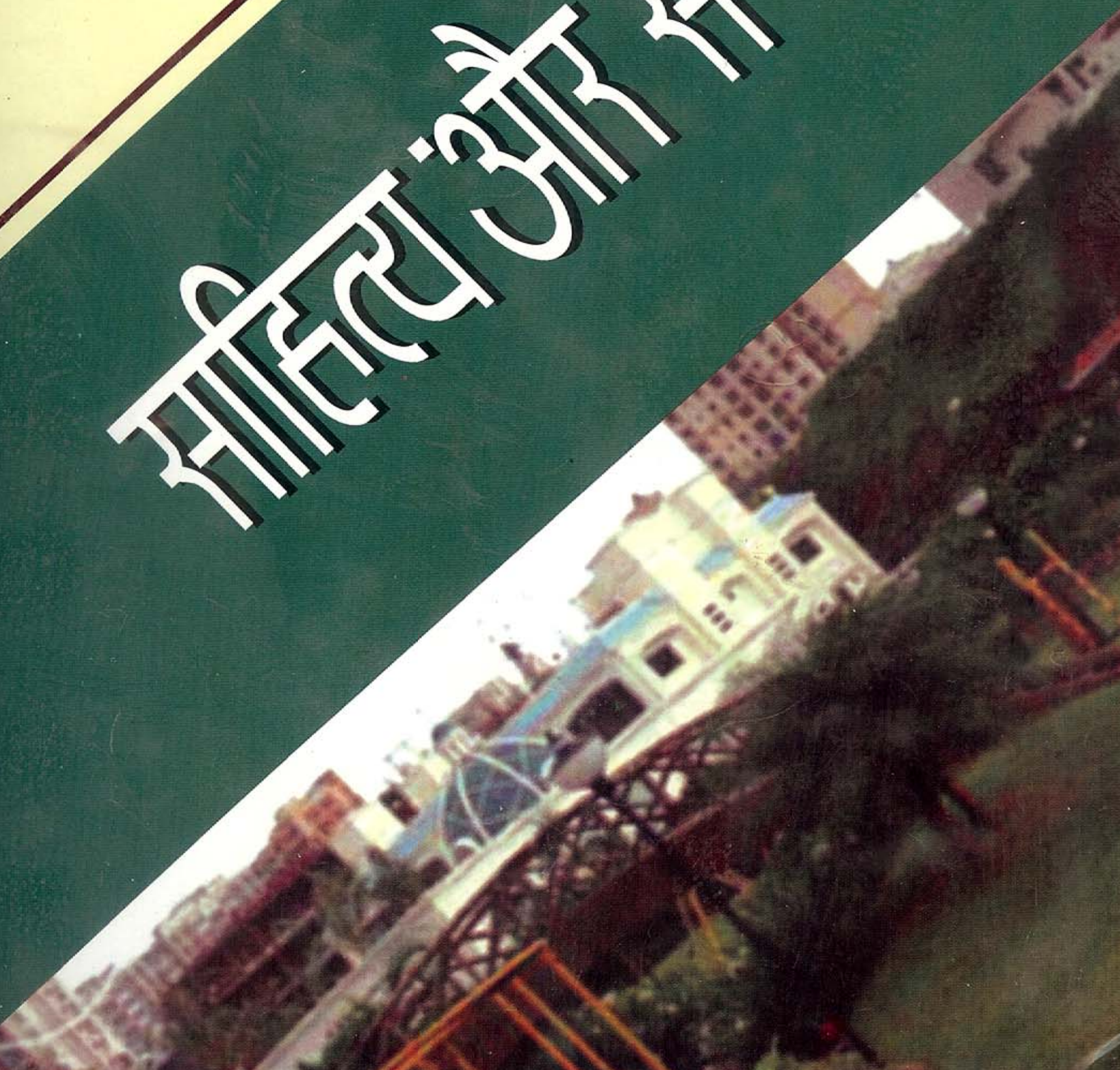
डॉ. राजेन्द्र यादव
डॉ. रजनी मिश्रा

साहित्य और समाज



साहित्य और समाज

डॉ. राजेन्द्र यादव
डॉ. रजनी मिश्रा

अमन प्रकाशन, सागर

साहित्य और समाज

(आलोचना पुस्तक)

- डॉ. राजेन्द्र यादव

- डॉ. रजनी मिश्रा

ISBN : 978-93-80296-43-2

प्रथम संस्करण - मार्च, 2016

मूल्य - 220/-

प्रकाशक

अमन प्रकाशन,

नमक मंडी, कटरा बाजार, सागर 470002 (म.प्र.)

मोबा. - 9826434225,

दूरभाष - 07582-406929

अक्षर संयोजन

एक्टिव कम्प्यूटर्स, सागर

नमक मंडी, कटरा बाजार, सागर 470002 (म.प्र.)

आमुख

लोकानुभूति की भावना से अनुप्राणित होने के कारण साहित्य का समाज से हमेशा गहन संबंध रहता आया है साहित्यकार युगानुरूप अपनी गंभीर और प्रौढ़ भावनाओं के द्वारा समाज को स्थायित्व प्रदान करता है। इस दृष्टि से जब हम हिन्दी साहित्य खासकर आधुनिक साहित्य पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि समाज की सीधी और स्पष्ट अभिव्यक्ति आधुनिक हिन्दी साहित्य की पहचान भी है और विशेषता भी। आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल के साहित्य से आधुनिक हिन्दी साहित्य इस अर्थ में भिन्न है। भारतेन्दु से प्रारंभ हिन्दी साहित्य के विकास को आधुनिक काल की संज्ञा दी गई है। यह आधुनिक काल आज भी जारी है। इस लम्बी अवधि में हिन्दी का रचनात्मक विस्तार बहुआयामी रहा है। कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध और आलोचना के विकास में अनेक सोपान आए। आधुनिक साहित्य की इस लम्बी यात्रा में रचनात्मक दृष्टि से साहित्य की सभी विधाओं में समकालीन समाज का चित्रण प्रमुखता से हुआ है।

कथा साहित्य में प्रेमचंद, कविता में निराला और आलोचना में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी साहित्य में सामाजिक चिंतन की आधार भूमि निर्मित की। हिन्दी साहित्य अपने नये समाज केन्द्रित रूप में आदर्शवाद से प्रारम्भ होकर लगातार सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति की ओर बढ़ता गया। अनेक वैश्विक विचार-धाराओं ने भी हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया। यह प्रभाव कविता, कहानी, उपन्यास और आलोचना में भी स्पष्ट दिखाई दिया। स्वतंत्रता के बाद हिन्दी साहित्य में भारतीय समाज और उसकी सामाजिक, आर्थिक स्थिति का चित्रण नये रूप में सामने आया। कथा साहित्य में कहानी और उपन्यास सामाजिक और पारिवारिक चेतना को लेकर मुखर हो उठे। सदियों की राजनैतिक उथल-पुथल और राजशाही के बाद भारत में जनतंत्र की स्थापना हुई। संविधान के समानता और न्याय की स्थापना ने भारतीय समाज के सदियों से उपेक्षित सामाजिक वर्ग को नयी चेतना दी।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में जनतंत्र की स्थापना ने भारतीय समाज में नयी सामाजिक चेतना को जन्म दिया। यह सामाजिक चेतना साहित्य में गहरी संवेदनशीलता लेकर आयी। आधुनिक हिन्दी साहित्य में समाज, परिवार और स्त्री-पुरुष संबंधों का चित्रण खुले रूप में हमारे सामने आया। समाज परिवार से बनता है और परिवार स्त्री के बिना

संभव नहीं। इस अर्थ में हिन्दी कथा साहित्य में पारिवारिक चेतना और सामाजिक चेतना एक ही रचनात्मक भूमि के दो पहलू हैं जिसे आधुनिक कथा साहित्य में अभिव्यक्ति मिली है। आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में समाज, परिवार की अभिव्यक्ति के साथ रचनाकार के मानस से होकर कैसे समाज रचनाओं में प्रकट और विन्यस्त होता है इस पुस्तक को नया आधार देगा।

15 मार्च 2016 *- डॉ. छबिल कुमार मेहेर*

अनुक्रम

1

हिन्दी कथा-साहित्य में सामाजिक और पारिवारिक संदर्भ

हिन्दी कथा साहित्य में पारिवारिक चेतना

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में पारिवारिक चेतना की कहानियाँ और उपन्यास वर्षों से पाठकों के चिंतन और अनुराग का विषय रहे हैं। परिवार मनुष्य को संरक्षण, बल, सांत्वना देने वाली संस्था है। संसार के सभी देश, धर्म और समाज परिवार को सभ्यता के साथ जोड़कर देखते हैं। पारिवारिक चेतना मनुष्य की सामाजिक चेतना का बीजांश है।

हिन्दी के कथा साहित्य में पारिवारिक चेतना, मर्यादाओं, त्याग बलिदान और उसकी सामाजिक मर्यादाओं पर केंद्रित अनेक कहानियाँ व उपन्यास है। विपुल कथा साहित्य में से पारिवारिक चेतना का अलग से रेखांकन करना एक कष्ट साध्य कार्य है, क्योंकि कहानी, उपन्यास, लघुकथाओं में बल्कि मैं तो कहूँगी संपूर्ण काव्य में पारिवारिक चेतना रचना के आधार रूप में दिखाई देती है।

अच्छे परिवारों के बिना अच्छा समाज निर्मित नहीं हो सकता और परिवार व्यक्ति की प्रथम पाठशाला है। मैं से हटकर हम बनने का प्रयास पारिवारिक चेतना की ही अभिव्यक्ति है। भारतीय धर्म, दर्शन सारे संसार को एक बड़े परिवार की तरह देखते रहे हैं -

इयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैवकुटुम्बकम्।।

अर्थात् यह मेरा है वह दूसरे का है ऐसी गणना क्षुद्र बुद्धि के लोग किया करते हैं। उदार चरित वालों के लिए सारी पृथ्वी एक परिवार की तरह है। पारिवारिक चेतना की चर्चा करते हुए मैं दरअसल मनुष्यता की पहली पाठशाला के बारे में निवेदन करना चाहती हूँ।

मनुष्य सहज स्वभाव वश साहित्य के अध्ययन नये मूल्यों, नये विचारों और नई अनुभूतियों का अभिनन्दन करता है। वह साहित्य से प्रभावित होना है। उस प्रभाव के कारण ही वह समाज को बरतने का प्रयास करता है।

नामवर सिंह ने कहानी को परिवर्तन का एक अस्त्र माना है। इस बदलाव के सिलसिले में वे रचनाकार की एक दृष्टि भी आवश्यक मानते हैं। "जागरूक कथाकार की हर कहानी उसके सामाजिक जीवन संघर्ष की दशा में एक कदम होती है और बृहत्तर अर्थवत्ता प्रदान करती है। कहानी के लिए अभीष्ट वर्ण्य- विषय चुनने के क्रम में भी एक निश्चित दृष्टि होती है।"[1]

उपन्यास, कहानी, निबंध आदि अनेकों माध्यम आज के साहित्यकार के समक्ष हैं। जिनके द्वारा वह समाज में जागृति ला सकता है अपने विचार उस तक पहुँचा सकता है पर किसी एक ही माध्यम को अपनाने या किसी दूसरे माध्यमों को न अपनाने जैसी कोई बंदिश नहीं है। साहित्यकार चाहे तो एक से अधिक माध्यम भी अपना सकता है।

ऐसे ही साहित्यकारों में मालती जोशी जी भी एक है जिन्होंने अपने विचारों को कहानियों और लघु उपन्यासों में उतारा है। अधिकतर रचनाओं में मालती जोशी की शैली भावनात्मक है। वे समाज में चेतना लाने के लिए अपने शब्दों के द्वारा सीधे आघात करती हैं जिससे पाठक के सामने सामाजिक जीवन का स्पष्ट एवं सजीव चित्र उभरता है।

मालती जोशी ने अपनी कहानी 'बोल री कठपुतली' में नारी जीवन का सजीव चित्रण किया है। नारी को परिवार में रहते हुए किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है- 'बोल री कठपुतली' कहानी के माध्यम से बताया है। इस कहानी का एक अंश यहाँ दृष्टव्य है -

अपने तिकड़मी ससुर की याद आती है तो आज भी उसका तन-मन सुलग उठता है। जब देखने आये थे तब उसका सुलेख देखने के बहाने एक प्रार्थनापत्र लिखवा लिया था। वह तो बहुत झल्लाई थी। एम.ए. पास लड़की से कोई इस तरह इबारत लिखवाता होगा, पर घर में पिता का कठोर अनुशासन था उनकी आँखों के मौन आदेश की वह अवहेलतना न कर सकी। ससुर महोदय खुशी-खुशी उसका प्रार्थना पत्र और सर्टिफिकटों का पुलिन्दा लेकर चलते बने थे।

अगले हफ्ते ही डाक से सारे सर्टिफिकेट लौट आये थे और वर पक्ष की स्वीकृति का पत्र भी। लिखा था कि लड़का कन्या के बुद्धि-वैभव से इतना अभिभूत है कि लड़की स्वयं देखने की जिद भी उसने छोड़ दी है।

इस सुसंबद्ध आगामी षड़यंत्र की जरा भी भनक उसे लग जाती तो वह इस शादी से इंकार कर देती। भले ही उसे अपनी जिद के कारण पिताजी को नाराजगी का शिकार होना पड़ता। पर पता तो तब चला जब वह अपनी दहलीज छोड़ चुकी थी। उसके हाथों की अभी मेंहदी उतरी भी नहीं थी कि उसके हाथों में नियुक्ति पत्र थमा दिया गया था।"[2]

हमारे परिवार में अनेक प्रकार के संबंध होते हैं जो अधिकार और कर्तव्यों के आधार पर सुचालित होते हैं। इसमें प्रेम, त्याग, विश्वास का अपना-अपना अंश होता है। माँ-बाप, भाई-बहिन, मित्र, पुत्र, पति-पत्नी, शिक्षक-विद्यार्थी आदि ऐसे अनेक संबंध है

जिनकी मधुरता बहुत कुछ प्रेम, त्याग, विश्वास जैसे संबंधों पर आधारित होती है और इन तीनों का निर्वाह अधिकार और कर्तव्य के संतुलन पर निर्भर करता है। अधिकार और कर्तव्य के प्रति जब लोग सजग हो जाते है तब परिवार फिर समाज विकास की ओर बढ़ता है। इसके अतिरिक्त समाज में व्यक्ति संबंधों के बीच भी एक सजग चैतन्य काम करता है। यह चैतन्य संबंधों में आवश्यक परिवर्तन भी लेता है फिर ये परिवर्तन आवश्यक हो या समूहगत। दोनों में ही आदिकाल से परिवर्तन को क्षीण रेखा देखी जा सकती है। भारत का सामाजिक ढाँचा पुरूष सत्ता प्रधान है। इसमें नारी गौण है। गौण होते हुए भी विश्व के अन्य समुदायों की तरह नारी गुलाम नहीं है। वह सम्मानित है। इसलिए वेदों में उसके महत्व को स्वीकारते हुए कहा है।

कालान्तर में राजतंत्र की स्थापना से नारी को राजनीति का पुर्जा भर बना दिया था। उसका सौन्दर्य राज्यों की मैत्री के लिए बेचा जाने लगा। स्थिति तब और गंभीर हो गया जब विदेशी भारत आये अनके आगमन से भारतीय नारी को जो उपहार दिये गये थे अनमोल बहु-विवाह, बाल-विवाह, अशिक्षा, पर्दाप्रथा, सतीप्रथा। अपने इस दुर्भाग्य को उसने अठारहवीं सदी तक भोगा। इसके बाद राजा राममोहनराय विवेकानंद जैसे सुधारकों ने उन्हें इस नरक से उबारने का बीड़ा उठाया। बीसवीं शताब्दी में राजनीति में गांधी युग के प्रवेश के साथ भारतीय नारी का भाग्योदय हुआ। गांधी द्वारा राजनीति से उनके आह्वान को समाज ने भी स्वीकार किया और जब से भारतीय नारी लगातार अपनी क्षमताओं और आत्मविश्वास के बल पर अपनी अस्मिता के लिए संघर्षरत है। नए भारतीय संविधान ने उसे पुरूष के समान सामाजिक स्थिति दी है। उसे पिता और पति की सम्पत्ति में बराबर का अधिकार दिलवाकर आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाया है।

वह सारे सोपान भारतीय नारी ने क्या जीवन की सच्चाइयों में भी तय किये हैं। ये प्रश्न बार-बार उठते हैं और तब उत्तर मिलता है नारी प्रगति का जो स्वरूप दिखाई देता है उसके केन्द्र में आज भी शोषण है - पीड़ा है - पुरूष का वर्चस्व है। मालती जोशी जी की कहानियों में उस पहलू को छूने का प्रयास मैं करूंगी।

नारी राष्ट्रीय-धारा में सदा ही उपहार की वस्तु रही है। भारमल ने जोधा बाई को अकबर बादशाह को शादी के तोहफे के रूप में पेश कर दिया था। वास्तव में वह जोधाबाई की कीमत अदा कर रहा था अपने राज्य की सुरक्षा के लिए। यह कोई हिन्दू-मुस्लिम एकता का सेतु नहीं था, न उसे बनाने का अभिप्राय था। अनेकानेक राजपूत राजा उसके बाद मुगल बादशाहों को अपनी कन्यायें, बहनें शादी के तोहफे के रूप में पेश करते रहे। सारे इतिहास में जिसके पास पेश करने लायक ऐसा कुछ भी नहीं था, वे सदा मुगल आक्रमण के शिकार रहे, अधिकांश हारे, उनका राजपाट छिन गया।

जो बादशाह हारा, उसकी पत्नी, लड़कियाँ विजय की 'ट्राफी' बनी। जब चंगेज ने ईरान-ईराक को रौंद दिया तो वहाँ के बादशाह की दो कुमारियाँ उसने अपने लिए विजय तोहफे के बतौर ग्रहण की व उनके साथ उनके ही महल में वह रमण करता रहा।

अहमदशाह अब्दाली ने मुगल बादशाह रंगीले की सबसे सुन्दर पत्नी को चुना। सरे दरबार उसने सारी बेगमों को नृत्य के लिए मजबूर किया। ग्रीक बादशाह सेल्यूकस जब चन्द्रगुप्त से हारा, उसे अपनी बेटी सौंपनी पड़ी। सिन्ध के ऊपर जब मुहम्मद बिन कासिम ने हमला किया व फतह हासिल की तो उसने खलीफा को ट्राफी के बतौर दमिश्क में दारा की दो कन्याएँ भेंट की। मिश्र की महारानी क्लियोपेट्रा स्वयं को विजयी रोम सम्राटों को परोसती रही। वह पहले सीजर की पत्नी बनी और बाद में उसके भाई की पत्नी बनी। बाजीराव पेशवा को मस्तानी भी विजय उपहार मिली भी, जो एक दुखद प्रेमगाथा में परिणत हो गई। बाज बहादुर की रूपमति ने जहर खाया ताकि वह विजयी सेनापति का उपहार होने से अपने आप को बचाये।

इसी शताब्दी में हमें ऐसे अनेक उदाहरण और भी मिल जाते हैं। मिश्र के अधिनायक कर्नर नासेर ने इजराइल पर हमला किया, चर्चिल के बेटे ने वह 'सातदिनी युद्ध' का वर्णन एक पत्रकार के बतौर लिखा है। उसने कहा कि मिश्र के हर सैनिक वर्ग को तमाम स्त्रियों के बलात्कार की छूट थी। ऐसे पत्र कई-कई सैनिकों के पास उनकी मौत के बाद मिले थे। वे आज भी सुरक्षित हैं।

यदि हम पौराणिक काल में देखें तो वहाँ भी हमें इस तरह के उदाहरण मिल जावेंगे। सैंकड़ों में से कुछ ये हैं कि रावण की मृत्यु के बाद भगवान राम ने रावण की पत्नी को विभीषण के लिए उपहार स्वरूप देकर पुरस्कृत किया। बाली की पत्नी को भगवान राम ने सुग्रीव को भेंट कर दिया था। अग्नि परीक्षा के समय स्वयं सीता से कहा कि उनका लक्ष्य 'सीता मुक्ति' पूर्ण हुआ, अब वे किसी को भी अपना साथी चुन लें। बाल्मीकि रामायण भी इसी क्षेत्र में देखी जानी चाहिए। पौराणिक काल में विष कन्यायें भी होती थी। नारी सौन्दर्य को हथियार बनाकर जासूसी में उपयोग करने को स्वीकृत परंपरा हमारे यहाँ रही है। जहाँ प्रेम-पिपासा लिए काम वासना भड़काकर गुप्त रहस्य प्राप्त करने के लिए महिलाओं का पूरा-पूरा उपयोग चाणक्य करता है। शेरशाह सूरी एक साधारण सिपाही से जब दिल्ली तख्त पर आया, तो वह अपनी पूर्व मालकिन को अपनी बेगम बनाकर लाया।

इसी शताब्दी की घटना है - तीस के दशक से जापान ने कोरिया पर हमला किया। जापानी सैनिकों की काम-तृष्णा शांत करने के लिए जबरदस्ती नौकरानियां रखी गयी। इसमें आज भी कई जिंदा है। इनकी क्षतिपूर्ति की बात अन्ततः जापान ने स्वीकार कर ली है। हिटलर जासूसी के लिए सुंदरियों को उपयोग करता था। सोवियत रूस तथा साम्यवादी चीन सुन्दर कुमारियों का यह कर्तव्य था कि वे दर्शन की महानता के कारण गुप्तचरों से अपने सौन्दर्य एवं कामकला को भुनाये। इस संबंध में उन्हें विधिवत् प्रशिक्षण दिया जाता था। के.जी.बी. में ऐसी पार्टी कार्यकर्ता हजारों में थी, जिनका उपयोग पश्चिमी राष्ट्रों के विरूद्ध किया गया।

''आज माफिया जगत में सुंदरियां की भूमिका इसी के आसपास हैं। अपराध जगत में नारी का उपयोग मोहिनी के बतौर ही है जिसका खतरनाक खूनी अंत अपने धब्बे इधर-उधर छोड़ता है। माफिया का यही चेहरा राजनीति में भी उभरकर आ रहा है जहाँ सभी साथी काम सहयोगिनियाँ या तो तंदूर की सेवा में हाजिर होती हैं या मगरमच्छ का कलेवा बनती हैं। पिछले 30-35 साल से जो भी भारतीय एवं हॉलीवुड की फिल्में बन रही हैं, वे माफिया अपराध को या तो शिकार, असहाय नारी मुक्ति के प्रश्न पर हैं या अय्यास नारी खलनायिका पर केन्द्रित है। यह नारी अस्मिता है, सम्मान है, साहित्य, सीरियल, सिनेमा में महिला के लिए कोई सकारात्मक, रचनात्मक भूमिका ज्यादा नहीं गयी। ऐसे अनेक नारियाँ इतिहास प्रसिद्ध जासूस बन गयी है जिन्हें वक्त आने पर जिससे उनका उपयोग किया, उसने ही नकार दिया वे मौत की ठंडी नींद सो गयी। मुक्त व्यापार-व्यवसाय ने सौदों को पटाने-जमाने में नारी की यही भेंट वाली छवि का व्यापारिक संस्थान जमकर उपयोग करते हैं। अपनी उन्नति हो जाए हम शिखर पर पहुँच जाएँ, इस खातिर पत्नियाँ लोग उपहार में लाते रहे हैं। आज जबकि नैतिकता पाताल में है, प्रगति की छलाँग लगाते अनेक अधिकारियों के पीछे सुन्दर पत्नियों के उपहारों के रहस्यों की कथाएँ भी यदा कदा झाँकती दिखती हैं। क्या नारी इस उपहारी संस्कृति के छलिए जाल से मुक्त होगी कभी? आखिर स्वर्ग में बसी परियों का, ऋषियों की तपस्या भंग करने के खातिर किन-किन रूपों में कब तक उपयोग करते रहेंगे। यह एक शाश्वत् प्रश्न मानव इतिहास की सजग चेतना पर जलते अंगारों सा जड़ा हुआ है और आज भी उत्तर की प्रतीक्षा में है।''[3]

कहानी के संबंध में यशपाल का कथन है कि - ''मनुष्य कहानी द्वारा, मानव समाज के रूप में अपनी समस्याओं पर चिंतन करता है। इस चिंतन को रोचक और सुबोध बनाने के लिए काल्पनिक उदाहरणों से कहानी के रूप में उस चिंतन की अभिव्यक्ति की जाती है।''

पारिवारिक जीवन का जीता जागता उदाहरण है जैनेन्द्र कुमार का उपन्यास 'त्यागपत्र'। इमसें पारिवारिक जीवन का सही ढाँचा पेश किया है। आज भी हमारे समाज में स्त्रियों को अपने मन से कुछ भी करने का अधिकार नहीं है। यदि यह कुछ करना भी चाहती तो उसकी भावना को दबा दिया जाता है उसकी भावना की कोई कद्र नहीं करता एक छोटी सी गलती के कारण उसके साथ ऐसा व्यवहार किया जाता है कि वह जिंदगी भर उसका परिणाम भुगतती हैं। इसका सजीव चित्र 'त्यागपत्र' में दिखाया है।

'त्यागपत्र' में एक ऐसी नारी की कहानी है जो कि अपने घर से बहुत लाड़ली है किन्तु अपनी छोटी सी गलती के कारण उसका जीवन नर्क बन जाता है। वह जीवन में कुछ भी नहीं कर पाती और अंततः घुटकर मर जाती है। इस सबको उसका छोटा भतीजा देखता रहता है। वह शुरू से ही अपनी बुआ को चाहता है जब भी वह कुछ जानने को कोशिश करता है उसकी माँ उसे डाँट देती है। समझदार होने पर पता करता है वह

उससे घर चलने को कहता है किन्तु उसकी बुआ इंकार कर देतीं है। वह अपनी पढ़ाई करके जज बन जाता है किन्तु बुआ के अंत समय तक पर उसे न्याय नहीं दिला पाता और अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे देता है हरिद्वार में जाकर विरक्त जीवन बिताता है उसे जिंदगी से कुछ भी दिलचस्पी नहीं रह जाती।

"..... नहीं भाई पाप-पुण्य की समीक्षा मुझसे न होगी। जब हूँ कानून की तराजू की मर्यादा जानता हूँ। इसलिए कहता हूँ कि जिनके ऊपर राई-रत्ती नाप-जोखकर पापी कहकर व्यवस्था देने का दायित्व है वे अपनी जाने। मेरे वश का वह काम नहीं है। मेरी बुआ पापिष्ठा नहीं थी, यह भी कहने वाला मैं कौन हूँ? पर आज भी मेरा जी अकेले ये उन्हीं के लिए चार आँसू बहाता है। मैंने अपने चारों ओर तरह-तरह की प्रतिष्ठा की बात करके मजबूत जमा ली है। कोई अपवाद पार करके मुझ तक नहीं आ सकता, पर उन बुआ की याद मेरे मन को खट्टा बना देती है। क्या वह याद मुझे चैन नहीं लेने देगी? उनके मरने की खबर अभी पाकर बैठा हूँ। वह सुखपूर्वक नहीं मरी, पर इतना तो मैं उनकी मौत, के दसियों वर्ष पहले जानता था। फिर भी जानता हूँ कि क्या अंत समय से उन्होंने अपने इस भतीजे को याद किया होगा? यह अनुमान करके उसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं।"[4]

कोई भी इन्सान समय रहते किस तरह बदल जाता है इसका सजीव चित्र जैनेन्द्र कुमार ने 'त्यागपत्र' में किया है। जो बचपन में सभी की लाड़ली बेटी, बुआ, बहन है वह चहकती रहती है किन्तु वक्त ने उसे अनजाने में ही उम्र से ज्यादा प्रौढ़ बना दिया है। परिस्थितियाँ इन्सान को कहाँ से कहाँ पहुँचा देती हैं यह जो कभी भी नहीं सोचता वैसा घट जाता है। "किसी दिल की आग को मैं सचमुच नहीं जानता था। लेकिन उस समय बुआ को देखकर उनकी उस क्षण भर में होकर' उसी क्षण बुझ जाने वाली अनबूझ मुस्कान को देखकर मेरे मन की पीड़ा बहुत धनी हो आयी थी। मेरे मन में होता था कि किस तरह से उनके काम आ सकूँ कि उनका जी हल्का हो, और नहीं तो उनके गले लगकर फूट ही पड़ूँ।"[5]

हमारे जीवन में कई तरह की घटनाएँ होती है, होकर चली जाती हैं हम जीते है और एक रोज मर जाते हैं। जीना किस उछाड़ से आरंभ करते हैं, पर उस जीवन के इस किनारे आते-आते कैसी ऊब कैसी उकताहट में जी भर जाता है। इसी लीला पर में सोचती रह जाती हूँ। "कुछ पर सही मिलता, कुछ भेद नहीं पाता समुद्र है। अपनी नन्ही कागज की डोंगी लिए हम भी उसके किनारे-किनारे खोने के लिए आ उतरे हैं, पर किनारे ही कुशल हैं, आगे याद नहीं है हिम्मत वाले ही आगे बढ़ते हैं। बहुत डूबते है, कुछ तैरते भी दीखते हैं, पर अधिकतर तो किनारे पर साँस लेने भर के लिए छीन-झपट और हाय-हाय मचाने में लगे हैं। नहीं तो वे और करें भी क्या? लड़ते-झगड़ते अपने छोटे से वृत्त की परिधि में चल चटक लेते हैं और इस भाँति जी भी लेते है। सागर तीनों ओर कैसे उल्लास से लहरा रहा है। पर वह लहराता रहे-हमें अपने धंधे हैं, उधर उसे देखने को हमारी आँख खाली नहीं है।

और कैसे करे उधर आँख? उस सागर की लहरों का अंत कहाँ है। कूल कहाँ है? पार कहाँ है? कहीं पार नहीं, कहीं किनारा नहीं है? छोर कहां हमारी अपनी ही दृष्टि का है अन्यथा कहीं भी जैसी ही अकूल विस्तीर्णता है। किनारे पर ही रहे, जहाँ पैर धरती से छू जाते हैं। वहाँ तक रहे, जहाँ हमारा लंगर धरती को पकड़ ले और हम ठहर सकें। बस, बस उसके आगे जब तक समुद्र के अगाध फैलाव की ओर हम देख लिया करें यही क्या कम है। इतना भी बहुत है, बहुत है उससे भी भीतर कंप भर आता है चित्त सहन रहता है सिर चकरा जाता है। झेला नहीं जाता। जितनी झेल सके उतनी विराट झाँकी ले और अपनी धरती के पास-पास किनारे-किनारे सबसे उलझाने सुलझाने जिए चलें। यही उपाय है। यही मानव जीवन है।"[6]

मानव के जीवन की गति अंधी है? वह अप्रतिरोध्य है पर अंधी है यह तो मैं नहीं मानूंगी मानव चलता जाता है और बूँद-बूँद दर्द इकट्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है। यही सार है। वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानव की मानस-मणि है, उसके प्रकाश में मानव का गति पथ उज्जवल होगा। नहीं तो चारों ओर गहन वन है। किसी ओर मार्ग सूझता नहीं है, और मानव जीवन अपनी क्षुधा-तृषा, राग-द्वेष, मान-मोह भटकता फिरता है। यहाँ जाता है वहाँ जाता है पर असल में वह कहीं नहीं जाता है। एक ही जगह पर अपने जुए में बंधा कोल्हू के बैल की तरह चक्कर मारता रहता है।

हिन्दी कथा साहित्य में बहुत से साहित्यकारों का योगदान है उनमें प्रेमचंद प्रमुख स्थान रखते हैं। आपके द्वारा लिखित 'गोदान' हिन्दी उपन्यास साहित्य में मील का पत्थर माना है प्रेमचंद द्वारा लिखित कहानी 'बड़े घर की बेटी' में संयुक्त परिवार की वास्तव में क्या महत्ता है? उसमें रहने के फायदे हैं तो नुकसान भी है। इनका सजीव चित्रण इस कहानी से स्पष्ट दिखाई देता है। 'बड़े घर की बेटी' कहानी में उनके दो बेटे है। वहाँ बेटा श्रीकंठ और छोटा लालबिहारी है। बड़ा बेटा नौकरी करता है छोटा गाँव में ही रहता है। श्रीकंठ की शादी एक बड़े घर की बेटी अनन्दी से होती है अनन्दी किस तरह से इस घर में आकर अपनी चतुरता से घर के वातावरण में सामंजस्य स्थापित करती है इसका चित्रण इस कहानी में है।

"लालबिहारी से न रहा गया वह रोता हुआ घर आया। अनन्दी से द्वार पर आकर बोला-भाभी, भैया ने निश्चय किया है कि वह मेरे साथ इस घर में न रहेंगे। अब मेरा मुँह नहीं देखना चाहते, इसीलिए अब में जाता हूँ उन्हें फिर मुँह न दिखाऊँगा। मुझसे जो अपराध हुआ है उसे क्षमा करना। यह कहते-कहते लालबिहारी का गला भर आया। अनन्दी ने लालबिहारी की शिकायत तो की थी किन्तु अब मन में पछता रही थी। वह स्वभाव से ही दयावती थी। उसे इसका तनिक भी ज्ञान न था कि बात इतनी बढ़ जायेगी। .... मन मैल धोने के लिए नयन-जल से उपयुक्त और कोई वस्तु नहीं है।"[7]

'बड़े घर की बेटी' कहानी में अनन्दी किस तरह अपने परिवार में हुई घटना को सुलझाती है इसकी सभी तारीफ करते हैं कि बड़े घर की बेटी ने किस तरह से अपने परिवार को पुनः अच्छा कर लिया। सभी मिलकर रहने लगे और सभी के मन एक हो गये परिवार में खुशियाँ आ गयी।

''अब श्रीकंड का हृदय भी पिछला। उन्होंने .... ईश्वर चाहेगा तो ऐसा अवसर कभी न आयेगा। बेनी माधव सिंह बाहर से आ रहे थे। दोनों भाइयों को देखकर आनन्द से पुलकित हो गये। बोल उठे-बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं। बिगड़ता हुआ काम बना लेती हैं। गाँव में जिस ने यह वृतांत सुना, उसी ने इन शब्दों में अनन्दी की उदारता को इन शब्दों से सराहा-'बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।''[8]

प्रेमचंद के समान नागार्जुन का भी किसान जीवन की समस्याओं से गहरा तादात्म्य है और शायद यही कारण है कि उपन्यासों में ग्रामीण जनजीवन की वास्तविक यथार्थानुभूति होती है। उनके उपन्यास न केवल राष्ट्रीय स्तर पर ही चर्चित हुए हैं अपितु अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा' 'बाबा बटेसरनाथ', 'नई पौध', 'वरूण के बेटे, कुम्भीपाक, उग्रतारा आदि नागार्जुन के प्रसिद्ध उपन्यास है जो स्वातंत्र्योत्तर भारतीय ग्रामीण जीवन में होने वाले परिवर्तन का साक्षात्कार कराते हैं।

आजादी के बाद सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण परिवर्तन ग्रामीण जीवन और कृषि अर्थव्यवस्था में आया जमींदारी उन्मूलन, कृषि का आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण, नवीन पंचवर्षीय योजनायें, सहकारी खेती, चकबंदी, भूमि सुधार संबंधी नए कानून आदि से भारतीय ग्राम्य जीवन में उथल-पुथल हुई। औद्योगिक उत्पादनों के साधनों पर पूँजीपतियों का आधिपत्य हुआ। वहीं ग्रामीण जीवन स्तर पर एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जिसमें भू-स्वामी और पूँजीपति या दोनों के गुण विद्यमान थे। पूँजीपति और बुर्जुआ वर्ग ने अपने हितों की रक्षा के लिए जमींदार उन्मूलन कानून पास किया जिसमे जमीदारों का प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रभुत्व तो समाप्त हुआ परन्तु किसानों को कोई विशेष लाभ नहीं मिला क्योंकि कानून ने जमीदारों से केवल मालगुजारी वसूल करने का अधिकार ही छीना, परन्तु लम्बी-चौड़ी जोत की जमीने उनके अधिकार में रही। यह तथ्य स्पष्ट करता है कि औद्योगिक क्षेत्र में पूँजीपतियों द्वारा तथा ग्रामीण क्षेत्र से नये वर्ग द्वारा आम किसान-मजदूर का शोषण जारी रहा।

आजादी के इस बदले परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण देश में जमीदारों और किसानों के बीच जबरदस्त संघर्ष हुआ। स्वामी सहजानंद ने बिहार में किसान आंदोलन को नेतृत्व प्रदान किया। बलचनमा के स्वामी यही सहजानंद ही है - ''लीडर पाँच-छह आये थे। पटने से स्वामी जी, गया से शर्मा जी, मुजफ्फरपुर से मिसिर जी, कहीं के एक और बाबू थे, समस्तीपुर के गंगाबाबू और राधाबाबू। स्वामी जी नाटे कद के जरा सांवले आदमी थे, कपड़े गेरूआ रंग में रंगे हुए। बोलते थे तो ऐसा लगता था कि मानो भीड़ में मकई का लावा फूट रहा था।''[9]

ऊपर जिन परिस्थितियों की चर्चा की गई है वे सब 'बलचनमा' में विद्यमान है-''खान बहादुर साहूल्ला खाँ थे। रैयत हिन्दु-मुसलमान सभी जात की थी। आठ दस मौजे की माल गुजारी आती थी। वह खुद ढाई-तीन सौ बीघा ही रखे हुए थे, बाकी हजारों बीघा मनखप लगी हुई थी। मनखप समझा भैया। नहीं? अरे भाई, उपज का सोलहवाँ, बीसवाँ या दसवाँ हिस्सा वसूल करता है जिसे लगान के तौर पर एक मन, बीघा या तीन मन उतना अनाज या उतने की रकम जाकर मालिक के यहाँ जमा कर दो। यह पुरा के छोटी औकात के तीन सौ खेतीहार खान बहादुर की चार बीघा जमीन पुश्त-दर पुश्त से मनहुंडा जोतते आये थे। अब यहाँ कांग्रेस अमल (शासन) आने वाला था। तरह-तरह की अफवाहें फैल रही थी। खान बहादुर पहले से ही चौकस हो गये। वह इस कोशिश में लगे रहे कि एक की जोत का खेत दूसरे के नाम बन्दोबस्त होता चला जाए। गुपचुप चार-छः बंदोबस्तियाँ हो भी चुकी थी खेतीहारों से कुनमुनाहट आई। उनकी तरफ से डॉक्टर रहमान जिला के कांग्रेसी लीडरों के पास पहुंचे लेकिन महात्मा जी के चेला लोग उल्टे रहमान साहब को ही शांति और संतोष का शर्बत पिलाकर चुप बैठे रहे। मगर खान बहादुर नहीं बैठे रहे, भीतर ही भीतर जमींदार दावपेंच उनका बढ़ता ही गया। ..... डॉक्टर रहमान कब तक बैठे रहते। ..... उन दिनों सोशलिस्टों में बड़ी गर्मी थी भैया। वे जो कुछ कहते उसे करने की भी कोशिश उनकी ओर से होती थी। मजदूरों की हड़ताल हो या किसानों का आँदोलन सोशलिस्ट भाई आगे बढ़कर उसमें हिस्सा लेते थे। सो राधाबाबू ने डॉक्टर रहमान की बातें ध्यान लगाकर सुनी। खान बहादुर के खिलाफ लड़ाई छेड़ने का रास्ता बता दिया। किसानों का संगठन अखबारों से जमींदार की जालिमाना हरकतों का प्रचार कम से कम पचास ओलियंट्रो की बहाली, बीस पच्चीस मन अनाज और सौ वे रूपया, इलाके भर के किसानो को एक भारी मीटिंग। ..... डॉक्टर रहमान महपुरा लौट आये और किसानों को सब कुछ समझा दिया। लोग फौरन राजी हो गये। उस जालिम जमींदार का मुकाबला अकेले तो कोई कर नहीं सकता था। उसके पीठ पर थाने के दरोगा साहब, दरभंगा के कलेक्टर साहब थे, इलाके भर के जमींदार, पंडित और मौलवी सब खान बहादुर के पक्ष में थे। पश्चिम के दस लठैत जवान, नेपाल के पाँच खुखरी बहादुर ..... बड़ा ताकतवर था बाज बहादुर अकेले कौन उससे भिड़ता लेकिन सौ ठौ लाठी एक जगह हो जाये तो उसका एक भारी बोझ बन जाता है। अपनी-अपनी धरती की हिफाजत के लिए किसान एक होने लगे। ..... रैयत लोगों ने तय कर लिया कि लाश गिरे तो गिरे 'मगर' अपने खेत दूसरे के दखल में नहीं जाने देगे।''[10]

प्रेमचंद का 'गोदान' पारिवारिक चेतना की अच्छी समझ देता है। असल में यह सारा उपन्यास ग्रामीण परिवारों के अभावों, संघर्षों और परिवार बिखण्डन की दास्तान है। अपनी प्रामाणिकता के कारण यह उपन्यास भारतीय किसान के आंतरिक आर्थिक पराभव को बड़ी जीवन्तता के साथ प्रस्तुत करता है। हिन्दी कथा साहित्य में प्रेमचंद का नाम बड़े

आदर के साथ लिया जाता है। उनके द्वारा लिखित उपन्यास 'गोदान' से इंसान के संघर्षमय जीवन की महागाथा है। होरी अपनी पत्नी धनिया, पुत्र गोबर तथा सोना व रूपा दोनों पुत्रियों के साथ अपने जीवन की गाड़ी खींच रहा है। संकट से जूझता टकराता होरी एक दिन लू की भेंट चढ़ जाता है। मरते समय भी उसके मन में गाय की साध बनी रहती है। विश्व के महान् उपन्यास सम्राट प्रेमचंद का उपन्यास 'गोदान' सर्वाधिक प्रसिद्ध है और हिन्दी साहित्य के इतिहास से मील के पत्थर की तरह खड़ा है।

"इस तरह गृहस्थ की भाँति होरी के मन में भी गऊ की लालसा चिरकाल से चली आ रही थी। यह उसके जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न, सबसे बड़ी साध थी। बैंक सूद से चैन करने या जमीन स्पर्श बने या महल बनवाने की विशाल आकांक्षाएँ उसके नन्हें से हृदय कैसे समाती। जेठ का सूर्य आमों के झुरमुट से निकलकर आकाश पर छायी हुई ऊपर चढ़ रहा था और हवा में गर्मी आने लगी थी। दोनों ओर खेतों में काम करने वाले किसान उसे देखकर राम-राम करते और सम्मान भाव से चिलम पीने का नियंत्रण देते थे, पर होरी को इतना अवकाश कहाँ था? उसके भीतर बैठी हुई सम्मान लालसा ऐसा आदर पाकर उसके सूखे मुख पर गर्व की झलक पैदा कर रही थी। मालिकों से मिलते-जुलते रहने का ही तो प्रसाद है कि सब उसे पूछते हैं। पाँच बीघे के किसान की बिसात ही क्या? यह कम आदर नहीं है कि तीन-तीन, चार-चार हल वाले महतो भी उसके सामने सिर झुकाते हैं।"[11]

होरी पारिवारिक जीवन का महत्व अच्छी तरह समझता है और वह परिवार से पत्नी की क्या भूमिका होती है तथा वह स्त्री वर्ग को वही इज्जत देता है। वह अपने मित्र भोला को पारिवारिक जीवन का महत्व समझाते हुए कहता है तो भोला भी अपने विचार व्यक्त करता है।

"भोला बोला - आदमी वही है जो दूसरों की बहू बेटी को अपनी बहू-बेटी समझे। जो दुष्ट किसी मेहरिया की ओर ताके, उसे गोली मार देना चाहिए। 'यह तुमने लाख रूपये की बात कह दी भाई। बस सज्जन, वही जो दूसरों की आबरू को अपनी आबरू समझे। जिस तरह मर्द के मर जाने से औरत अनाथ हो जाती है उसी तरह औरत के मर जाने से मर्द के हाथ-पाँव टूट जाते हैं। मेरा तो घर ही उजड़ गया महतो, कोई एक लोटा पानी देने वाला नहीं।"[12]

"भोला ने सहृदयता से पूछा - अलमोड़ो के समय तो तुम्हें बड़ा रंज हुआ होगा। भाइयों को तो तुमने बेटों की तरह पाला था।

होरी आर्द्ध कंठ से बोला-कुछ न पूछो बाबा, यही जी चाहता था कि कही जाके डूब मरूँ। ..... बहुत अच्छा है कि अलग हो गये। मेरे सिर से बता टली।[13]

प्रेमचंद का गोदान पारिवारिक चेतना का सबसे अच्छा उदाहरण है। पारिवारिक ईर्ष्या, द्वेष ऐसे भीषण होते हैं कि बड़े भाई ने एक उधार गाय खरीदकर पारिवारिक हैसियत

कुछ बड़ा ली है तो उसी का सगा भाई उसे जहर देकर उस गाय को मार डालता है और जाँच के लिए आयी हुई पुलिस को रिश्वत में रूपये खिलाकर अपने उसी अपराधी भाई की रक्षा करने का प्रयास होरी को पारिवारिक चेतना के केन्द्र बिन्दु के रूप में स्थापित करता है।

होरी के घर जब गाय आ गयी तो उसे अपने भाइयों की याद आयी। इस शुभ अवसर पर वह अपने भाइयों को उपेक्षा नहीं कर सकता था।" उसने नारियल खाट के पाये से लगाकर रख दिया और हीरा के घर की ओर चला। शोभा का घर भी उधर ही था। दोनों अपने-अपने हार पर लेटे हुए थे। काफी अँधेरा था। होरी पर उनमें से किसी की निगाह नहीं पड़ी दोनों में कुछ बातें हो रही थी। होरी ठिठक गया और उनकी बातें सुनने लगा। ऐसा आदमी कहाँ है जो अपनी चर्चा सुनकर टाल जाए। हीरा ने कहा जब तक एक में थे, एक बकरी भी नहीं ली। अब पछाई गाय ली जाती है। भाई का हक मारकर किसी को फलते-फूलते नहीं देखा।

शोभा बोला यह तुम अन्याय कर रहे हो हीरा। भैया ने एक-एक पैसे का हिसाब दे दिया था यह में कभी न मानूँगा कि उन्होंने पहले की कमाई छिपा रखी थी।

'तुम मानो या न मानो यह है पहले की कमाई।'

'किसी पर झूठा इल्जाम न लगाना चाहिए।'

'अच्छा तो यह रूपये कहाँ से आ गये? कहाँ से हुन बरस पड़ा। उतने ही खेत तो हमारे पास हैं। उतनी ही उपज हमारी भी है। फिर क्यों हमारे पास कफन को कौड़ी नहीं ओर उनके घर नई गाय आती है?

'उधार लाये होंगे।'

'भोला उधार देने वाला आदमी नहीं है।'

'कुछ भी हो गाय है बड़ी सुन्दर। गोबर लिये जाता था तो मैंने उसे रास्ते में देखा।'

'बेईमानी का धन जैसे आता है वैसे ही जाता है।' भगवान् चाहेंगे, तो बहुत दिन गाय घर में न रहेगी।'

होरी से न रहा गया। वह बीती बातों को बिसारकर अपने हृदय में स्नेह और सौहार्द भरे, भाइयों के पास आया था। इस आघात ने जैसे उसके हृदय में छेद कर दिया और वह रस-भाव उसमें किसी तरह नहीं टिक रहा था। वह उल्टे पाँव लौट आया।"[14]

लोक संस्कृति में परिवार के मुखिया को कूड़े-दान की तरह बताया गया है। एक विधवा स्त्री झुनिया से प्रेम संबंध स्थापित करके होरी का बेटा गोबर भाग खड़ा होता है किन्तु गर्भवती झुनिया को अपनाना कथा की इसी पारिवारिक चेतना को रेखांकित करता है। ऐसे अनेक प्रसंग हैं जो गोदान की पारिवारिक चेतना को उभारते हैं और मैंने जगह-जगह उनका उल्लेख किया है। "जब गोबर ने हार पर आकर देखा, तो किवाड़ बंद

हो गये थे। किबाड़ों के दराज से प्रकाश की रेखाएँ बाहर निकल रही थी। उसने के दराज से बाहर झाँका। धनिया और झुनिया बैठी हुई थी। होरी खड़ा था। झुनियाँ की सिसकियाँ सुनाई दे रही थी। और धनिया उसे समझा रही थी-बेटी, तू चलकर घर में बैठ। मैं तेरे काका और भाइयों को देख लूँगी जब तक हम जीते हैं, किसी बात की चिंता नहीं है हमारे रहते कोई तुझे तिरछी आँख भी नहीं देख सकता। गोबर गद्गद् हो गया। आज वह किसी लायक होता, तो दादा और अम्मा को सोने से मढ़ देता और कहता- अब तुम कुछ परवा मत करो, आराम से बैठकर खाओ और जितना दान-पुण्य चाहो करो। अब झुनिया के प्रति अब उसे शंका नहीं है। वह उसे जो आश्रय देना चाहता था, मिल गया। झुनिया उसे दगाबाज समझती है तो समझे। वह तो अब तभी घर आयेगा जब वह पैसे के बल से सारे गाँव का मुँह बंद कर सके और दादा-अम्मा उसे कलंक न समझ कर कुल का तिलक समझे।

मन पर जितना गहरा आघात होता है उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी गहरी होती है। इस अपकीर्ति ने और कलंक ने गोबर के अंतः स्थल को मथकर वह रत्न निकाल दिया जो अभी तक छिपा पड़ा था। ..... जब धनिया, झुनिया भीतर चली गयी, तो वह होरी की उसी मड़ैया में जा बैठा और भविष्य के मंसूबे बाँधने लगा।"[15]

"प्रेमचन्द हिन्दी कथा साहित्य की प्रौढ़ता के सबूत हैं। उन्होंने अतीत गौरव का पुराना राग नहीं गाया वे ईमानदारी के साथ अपनी वर्तमान अवस्था का विश्लेषण करते रहे। उन्होंने अपनी आँखों से समाज को देखा था। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि बन्धन भीतर का है बाहर का नहीं। बाहरी बन्धन भी दो प्रकार के हैं-भूतकाल की संचित स्मृतियों का जाल और भविष्य की चिंता से बचने के लिए संगृहीत जड़ सम्भार। एक का नाम संस्कृति, दूसरे का संपत्ति। एक का रथवाहक धर्म है, दूसरे का राजनीति है। अपने एक मौजी पात्र (प्रो. मेहता) के मुँह से 'गोदान' में उन्होंने कहलाया है - "मैं भूत की चिंता नहीं करता, भविष्य की परवा नहीं करता। भविष्य की चिंता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हमारे जीवन का शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह और भी क्षीण हो जाती है। हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर रूढ़ियों और विश्वास तथा इतिहासों के मलबे के नीचे दबे पड़े हैं, उठने का नाम नहीं लेते।"[16]

प्रेमचंद का यह विश्वास ही उनकी विशेषता है। उन्होंने वही ईमानदारी और गहराई के साथ अपना दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

गोदान में प्रेमचंद ने भारतीय जीवन की व्यथा की कहानी कही है। यह व्यथा-कथा केवल गाँव या केवल शहर की नहीं है। गाँव और नगर की कथाएँ समानान्तर विकसित होती चलती है। गाँव के नायक होरी में अर्थ और धर्म का द्वन्द चित्रित किया है। इस द्वन्द में धर्म पराजित नहीं होता परन्तु अर्थ दारिद्र्य बनकर उसे निगल जाता है।

नगर के नायक राय साहब के जीवन में इस द्वन्द के अंतर्गत धर्म निरन्तर पराजित होकर चला जाता है और अर्थ निरन्तर उनका साथ देता है। गाँव और नगर के इस वैषभ्य को प्रकट करना 'गोदान' का मूल कथ्य कहा जा सकता है। प्रेमचंद ने इसे दो समानान्तर कथाओं के माध्यम में अत्यन्त सामर्थ्य पूर्वक व्यंजित किया है। भारतीय किसान के दुख दर्द के साथ इसमें नागरिक जीवन के जो चित्र हैं वे किसान के जीवन की करूण-अनुभूति को और तीव्रता प्रदान करते हैं। होरी के जीवन की करूणा भारतीय किसान के जीवन की करूणा बन जाती है।

नागरिक और ग्रामीण जीवन की कथाओं की समान्तर स्थापना के विषय में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि "गोदान उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खण्डों में रहने वाले दो परिवारों के समान है। जिनका एक दूसरे के जीवन क्रम से बहुत कम संपर्क है।" इसी प्रकार का मत गोपाल कृष्ण गौड़ का है। गोपाल कृष्ण गौड़ के अनुसार "गाँव की आधिकारिक कहानी के साथ-साथ प्रासंगिक कहानी भी चलती है वह है गाँव के साथ नगर की कहानी-मालती और मेहता की कहानी-यह प्रासंगिक कथा दूसरी से अलग दिखायी पड़ती है और लगता है लेखक यदि होरी के ग्राम-जीवन तक ही सीमित रहता तो यह उपन्यास शिल्प की दृष्टि से पूर्ण होता।" परन्तु यह दोनों मत एकांगी है। 'गोदान' में नगर और गाँव की कथाएँ संवेदना के एक ही धरातल पर आधृत है। परिणाम स्वरूप भिन्नता को लेकर उसमें एकरूपता का अभाव दर्शाना वाजपेयी जी का पूर्वाग्रह ही कहा जा सकता है। गाँव और नगर की दोनों कथाऐं स्वार्थ, चेतना, स्वेच्छाचारी, सौहार्द भाव कहा जा सकता है। गाँव और नगर की दोनों कथाएँ स्वार्थ, चेतना, स्वेच्छाचारी, सौहार्द भाव तथा रिक्तता आदि धरातलों पर साथ-साथ पल्लवित होती है। दोनों जीवनों के मूल में एक ही प्रकार की समस्या की प्रधानता है। नगर और गाँव में एक ही समस्या के विभिन्न धरातलों की परिणतियों विभिन्न रूपों में होती है परन्तु केन्द्रीय संवेदना में एक ही स्वर की प्रधानता है। वह है धर्म और अर्थ का द्वन्द।

प्रेमचंद नगर और गाँव दोनों में स्वार्थ की परिव्याप्ति देखते हैं। नगर में यदि खन्ना, तंखा तथा रायसाहब एक दूसरे को मूर्ख बनाकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि करते हैं तो गाँव में नोखेराम, मगरू शाह, दातादीन, दुलारी तथा झिंगरी सिंह जैसे महाजन कृषकों को विवशता से लाभ उठाकर उनका निरन्तर शोषण करते हैं। भारतीय किसान का जीवन जमींदार, महाजन तथा कारिन्दों की शोषण श्रृंखला में बंधा है। सबमें निजी सुख की लालसा प्रधान है। अपने को सुखी बनाने की यह दृष्टि प्रेमचंद ने अलग-अलग धरातलों पर चित्रित की है। गाँव के और शहर के लोगों को एक ही प्रकार की मनोवृत्ति कार्य करती हुई दिखाई देती है। दोनों क्षेत्रों के लोग दूसरों के दुख में आमोद का अनुभव करते हैं। होरी जब भोला की गाय लाकर अपने जीवन की सर्वोत्कृष्ट आकांक्षा की पूर्ति पर सुख अनुभव करता

है तो हीरा उसकी गाय को जहर दे देता है। होरी की वेदनात्मक परिस्थितियों में गाँव के लोग अपने स्वार्थ का उल्लू सीधा करते हैं। नगर के लोग अपने स्वार्थ साधन के लिए एक दूसरे को मूर्ख बनाने में तत्पर है।

गोदान में यह एक सच्चाई है कि प्रेमचंद नगर और गाँव के जीवन में समस्या की एक-एक संवेदना को लेकर चलते हैं। यह दूसरी बात है कि इन दोनों में संवेदना के अलग-अलग परिणाम देखे जा सकते है। गाँव में गोबर झुनिया से संबंधित अपने स्वेच्छाचार अवश्यंभावी परिणाम से इतना आतंकित हो जाता है कि उसे गाँव छोड़ना पड़ता हे। अपने स्वेच्छाचारी आचरण के लिए गोबर को शहर में जाकर अनेक यातनाएँ उठानी पड़ती है। होरी झुनिया को शरण देकर और भी सघन यातना में फँस जाता है। उसके गाँव वालों की कटुक्तियां सहनी पड़ी है, वह विरादरी से बहिष्कृत कर दिया जाता है। गाँव का यही समाज दातादीन के प्रसंग से मौन रह जाती हैं परन्तु होरी जैसे साधारण किसान को झट प्रायश्चित की व्यवस्था करता है। पण्डित दातादीन जैस लोग, जिसने सिलिया चमारिन को अपने घर में रख लिया था। होरी को भले बुरे और ऊँच-नींच का ज्ञान देते हें। प्रेमचंद ऐसे पात्रों के माध्यम से समाज जीवन की यह सबसे बड़ी विडम्बना है कि ऐसे ही पात्र हमारे जीवन की मर्यादा के सूत्रधार होते हैं। होरी इन्हीं सूत्रधारों के षड़यंत्र का शिकार होता है। प्रेमचंद ने नगर जीवन में भी स्वेच्छाचारी आचरण की सम्भावनाएँ चित्रित की हैं। परन्तु वहाँ इस पर प्रतिबंध लगाने वाली संस्थाएँ नहीं है।

मेरी दृष्टि से 'झूठा सच' यशपाल जी के कथा साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कृति है। 'झूठा सच' एक युग की कहानी है स्वयं में एक इतिहास है- जो हमारे समाज में व्याप्त एक घिनौनी सच्चाई को उघाड़ के रख देता है-एक ऐसी कहानी जो समाप्त करने के बाद हमको अपने बारे में सोचने को बहुत कुछ छोड़ जाती है। 'झूठा सच' के लेखक ने साम्प्रदायिक और अलगाववादी प्रवृत्तियों पर बड़ा कठोर आक्रमण उसने उन मान्यताओं और उन धार्मिक रूढ़ियों पर किया है जो साम्प्रदायिक और अलगाववादी मनोवृत्तियों की जन्मदाता है। यशपाल जी के उपन्यास झूठा सच में आज के सामाजिक परिवेश का सजीव चित्र प्रस्तुत है। "मास्टर रामलुभाया डी.ए.बी. (आर्यसमाजी) स्कूल में अध्यापक थे और विचारों से सुधारवादी थे। उनके विचार में माता की मृत्यु का शोकाचार और सूतक दूर करने का उपाय ईश्वर भजन और हवन से होना चाहिए था। गली की स्त्रियों ने स्यापे के स्थान पर रूखे ईश्वर-भजन और हवन और हवन के प्रस्ताव सुने तो उन्होंने विस्मय प्रकट कर आपत्ति की हाय यह कैसे हो सकता है। कर्मों वाली बुढ़िया थी, पोते-पोतियों का पोते की बहू का मुँह देखकर मरी है, इसका विमान नहीं सजेगा, इसके लिए संगस्यापा नहीं होगा तो फिर क्या किसी जवान के मरने पर होगा।"[17]

किसी व्यक्ति के मरने के बाद किस तरह संयम रखकर सारे कार्य निपटाये जाते है- "शोक के अनुष्ठान में प्रयत्न, सतर्कता और सावधानी, संयम की इतनी आवश्यकता

रहती है कि मस्तिष्क शोक के आभास से जड़ नहीं हो पाता था। शोक आघात न सहकर एक अनुष्ठान व कर्तव्य बन जाता है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। शोकातुरों को शोक के वशीभूत न होने देकर शोक को अनिवार्य संपादन और कर्तव्य बना देना, शोक को वश में करने का और उसे बहा देने का मनोवैज्ञानिक उपाय भी था।''[18]

यह उपन्यास इतना मार्मिक, वास्तविक और रोचक इसीलिए बन पड़ा है कि लेखक 1047 की उन क्रूर घटनाओं का स्वयं मुक्त भोगी और कर्त्तव्य दर्शी गवाह रहा है लेकिन झूठा सच की कथा शिल्प और उसकी कहानी यशपाल जी के अन्य उपन्यासों से उसे कुछ अलग ही कर देती है जो निश्चय ही उसकी विशेषता का नद्योतक है।

यशपाल के तमाम कथा-साहित्य में उनकी नारी परम्परागत रूढ़ियाँ तथा दोषपूर्ण सामाजिक बंधनों के संघर्ष करती हुई दीख पड़ती है। यशपाल जी की नारी विद्रोहिणी है वह आजादी चाहती है समाज से समता का व्यवहार चाहती है बराबरी के स्तर पर पुरूषों के साथ कदम से कदम मिलाकर संघर्ष करना। यशपाल ने अपने उपन्यासों में पारिवारिक चेतना को बड़े ही स्पष्ट ढंग से पेश किया है परिवार में भाई की एक बहिन के लिए क्या-क्या महत्ता होती है इसका सजीव चित्र प्रस्तुत है-'' किसी ने उसकी बात का ध्यान नहीं दिया, उससे कुछ पूछा भी नहीं गया। एक दिन उसने सुना कि उसकी माँ बन्नी हाते के मुहाल में जाकर लड़के के ठाके के (सगाई के) ग्यारह रूपये दे आयी है। उस दिन तारा छिप-छिप कर खूब रोयी। सोचा, भाई होता तो ऐसा न होता। भाई को वह किसी भी तरह अपनी बात कह सकती थी। भाई उसका इच्छा के विरूद्ध सगाई का समर्थन नहीं कर सकता था।''

भाईयों के लिए बहिनें प्यारी होती हैं। भाई, बहिन के साथ गलत होता नहीं देख सकता इसके लिए वह सभी को लड़ने को तैयार हो जाता है। जो बहिन चाहती है तो भाई उसी का समर्थन करता है। इस प्रसंग में पारिवारिक चेतना को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है - ''तुझे ब्याह नहीं करना, मैं इम्तहान दूँगी।'' तारा अपने लिए लड़ते भाई की सहायता में बोली।

''फिटे मूँ। चुप। कैसे बेहयाओं की तरह बोलती है। इसी बात के लिए लोग मेरी तारीफ करते हैं। कोख को कलंक लगाने के लिए जना है मैंने तुम्हें।'' माँ के आँसू बह आये। माँ बहुत क्रोध में भी स्वर को दबाकर बोल रही थी कि ज़ीने के इस पार में मेलादेई के यहाँ आवाज न जाये। माँ ने पुरी की ओर देखा। स्वर में तनिक परिवर्तन आया-'' हमें नहीं जरूरत इम्तहान की। हमें इम्तहान से क्या लेना है। हमें लड़की का ब्याह करना है या उसे इम्तहान दिलाने हैं।'' माँ ने लड़कियों की ओर हाथ फैला संकेत किया।''

''तुम्हें नहीं दिखाई देता, चक्की के तीन-तीन पाट हमारे कर्मों से गले पड़े हैं। समझदार हो, जो बनते काल को बिगाड़ रहे हो। तुम तो जेल में पड़े थे मैंने साल भर जेठानी के ठलुए सहलाकर उसकी चाकरी करके वह रिश्ता करवाया, तुम उसे तुड़वा दोगे।'' माँ की आँखों में फिर आंसू बह आये।

माँ तुम भी क्या बातें करती हो। पुरी बोला। उनके स्वर की कड़ाई पिघल गई थी "रिश्तों की ऐसी क्या बात है। समय पर सब हो जायेगा।"[19]

यशपाल जी शोषण को समाज का सबसे बड़ा अभिशाप मानते हैं और यही कारण है कि पूँजीवादी शासन व्यवस्था से सख्त घृणा करते हैं। पूँजीवाद का मुख्य आधार शोषण है। समाज में परम्परागत जाति विभाजन को यशपाल जी अस्वीकार करतें हैं और सम समाज की स्थापना के लिए वे वर्ग संघर्ष को आवश्यक मानते हैं वे पुरानी और रूढ़िगत परम्पराओं को राष्ट्र के विकास में सबसे बड़ा रोड़ा मानते हैं। और उन्हें तोड़कर युग की मांग के अनुरूप नयी मान्यताओं के लिए कृत संकल्प है।

पारिवारिक चेतना : तात्पर्य, परिभाषा और व्याख्या

'चेतना' शब्द बड़ा ही व्यापक है। इसे 'बोध' और 'चैत्य' के समानार्थक रूप में ग्रहण किया जा सकता है। "चेतन' मानस की प्रमुख विशेषता चेतना है। अर्थात् वस्तुओं विषयों एवं व्यवहारों का ज्ञान। ..... चेतना की प्रमुख विशेषताएँ हैं - निरन्तर परिवर्तन शीलता। चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव वैचित्र्य से प्रमाणित होता है और चेतना की अविच्छिन्न एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्य के अनुभव से विभिन्न विषयों को अलग-अलग समय पर चेतना होने पर हम सदा यह भी अनुभव करते हैं कि मैंने अमुख वस्तु देखी थी।"[20]

'चेतना' जीवधारियों में रहने वाला वह तत्व है जो उन्हें निर्जीव पदार्थों से भिन्न बनाता है। दूसरे शब्दों में हम उसे मनुष्यों की जीवन क्रियाओं का चलाने वाला तत्व कह सकते हैं। चेतना स्वयं का और अपने आसपास के वातावरण को समझने तथा उसकी बातों का मूल्यांकन करने की शक्ति का नाम है।"[21]

विज्ञान के अनुसार चेतना वह अनुभूति है, जो मस्तिष्क में पहुँचने वाले अभिगामी आवेगों से उत्पन्न होती है। इन आवेगों का अर्थ तुरन्त अथवा बाद में लगाया जाता है। मस्तिष्क कभी-कभी तो तुरन्त अर्थ समझ लेता है और कभी बाद में धरोहर के रूप में प्रतीत विचारों के चिंतन-मनन द्वारा उनके अर्थों को ग्रहण करता है।

"मनोविज्ञान के अनुसार चेतना मानव में उपस्थित वह तत्व है, जिसके कारण उसे सभी प्रकार की अनुभूतियाँ होती है। चेतना के कारण ही हम देखते सुनते समझते और हम इसी के कारण अनेक प्रकार के निश्चय करते हैं तथा अनेक पदार्थों की प्राप्ति के लिए चेष्टा करते हैं।"[22]

इस तत्व का यदि अभाव हो तो मानव संवेगहीन हो जाए और जीवनानुभूतियों से वंचित भी। अनुभूतियों से वंचित मानव नहीं, वह कुछ और बन जावेगा। इसे भाव (Feeling) या (Mental experience) कहा है। यह एक आंतरिक प्रक्रिया होती है जो बाह्य परिणामों के प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न होती है। सुख-दुख की अनुभूतियाँ चेतना की दी देन है। जिनकी उत्पत्ति बाह्य परिस्थितियों के कारण वर्णन हुआ करती है। साहित्य

के क्षेत्र में अनुभूतियों का वर्णन हुआ है। यथाः (1) काव्यानुभूति (2) रसानुभूति (3) भावानुभूति (4) प्रातिभ्य अनुभूति (5) विलक्षण अनुभूति (6) रहस्यानुभूति (7) दिव्यानुभूति (8) लौकिक अनुभूति (9) प्रत्यानुभूति (10) सहानुभूति (11) समानुभूति (12) सौन्दर्यानुभूति।''[23]

चेतना मनुष्य की वह विशेषता हे जो उसे जीवित रखती है और जो उसे व्यक्तिगत विषय में तथा अपने वातावरण के विषय में ज्ञान कराती है। ''चेतना का प्रवाह जीवन का द्योतक (द्योतक) है। अहम् इस चेतना की अभिव्यक्ति है। एक ओर यदि चेतना जीवन के भार को वहन करती है तो दूसरी ओर वह जीवन के प्रसंग में सक्रिय भाग लेती है। सक्रिय भाग का आशय निष्क्रियता नहीं है और न ही उसका यह लक्ष्य है कि चेतना केवल उर्ध्वमुखी हो अंर्तमुखी न हो। उर्ध्वमुखी होने में ही यह निहित है कि जीवन का अस्तित्व अंतर्मुखी भी है। विकास का क्रम अपने वैज्ञानिक अर्थ में यह स्थापित करता है कि विकास किसी एक बिन्दु अथवा किसी एक स्थिति से होगा।''[24]

मानवीय चेतना में ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक चेतना का समावेश होता है। यह मनुष्य की विशिष्टता है जो उसे व्यक्तिगत एवं वातावरण के विषय में ज्ञान कराती है। इस प्रकार के ज्ञान को विचार-शक्ति या बुद्धि कहा जाता है। मनुष्य की सारी क्रियाओं एवं गतिशील प्रवृत्तियों का मूल कारण चेतना है। चेतना का विकास सामाजिक वातावरण के संपर्क से होता है। वातावरण के प्रभाव से मनुष्य नैतिकता, औचित्य और व्यवहार कुशलता प्राप्त करता है। यह चेतना का विकास कहा जाता है।'' विकास की चरम सीमा में चेतना विकास कहा जाता है। विकास की चरम सीमा में चेतना निज स्वतंत्रता की अनुभूति करती है। यह सामाजिक बातों को प्रदान कर सकती है और उनसे प्रभावित होती है, परन्तु इस प्रभाव से अपने आप को अलग कर सकती है। चेतना की इस प्रकार की अनुभूति को शुद्ध चैतन्य कहा जाता है।''[25]

साहित्य समाज से, समाज के लिए, सामग्री ग्रहण करता है। साहित्यकार बादल के समान समाज रूपी समुद्र से जल खींचता है, अर्थात् जो जल वह ग्रहण करता है, उसी जल को अधिक मधुर बनाकर समाज रूपी समुद्र को वापस कर देता है। साहित्य जीवन की प्रतिकृति है। उसका केन्द्र बिन्दु मानव-जीवन है, उसका संबंध जीवन के आनन्दमय एवं विषादयुक्त दोनों पहलुओं से होता है।'' साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बंधुओं के कष्टों से विफल हो उठती है और इस तीव्र विकलता से वह रो उठता है, पर उसके रूदन में व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक होता है।''[26]

व्यवहार अनुभव और कर्म की प्रक्रिया से मनुष्य संज्ञान प्राप्त करता है। चिंतन का प्रारंभ यहाँ से होता है। चिंतन चेतना के कुछ निश्चित कर्मों से अलग होकर किसी वस्तुगत नए ज्ञान के उत्पादन के लिए विशेष परिस्थितियों में शामिल होता है। इसमें

भावनाओं के निर्मूलन के लिए क्रांतियाँ भी स्थान पाती है। उनकी उपादेयता पर प्रश्न चिन्ह लगते हैं। इन प्रश्नों को उठाने का कार्य चिंतक और समाज-सुधारक करते हैं। अपने रूढ़िग्रस्त अनुपादेय से दो चार होता है ओर परिवर्तन की लहर आती है। यही परिवर्तन समाज को एक नया रूप प्रदान करता है। यह परिवर्तन लक्ष्य भी हो सकता है और अलक्ष्य भी। समाज के राजनीतिक मुद्दों से जुड़ा हो सकता है। इसी का अक्स जब साहित्य पर पड़ता है तो वह सामाजिक और राजनैतिक चेतना का रूप बन जाता है। प्रस्तुत प्रबंध से इन्हीं परिवर्तनों को रखने का प्रयत्न करते हुए मैंने ख्यातिलब्ध उपन्यासकार, कथाकार मालती जोशी के साहित्य को अध्ययन का विषय बनाया है जिन्होंने समाज की गतिशील प्रक्रिया में अपनी भाषा को रगड़ से चमक पैदा करने की कोशिश की क्योंकि वे यह जानती हैं कि गतिहीनता वस्तु या तथ्य को खत्म करने से पहला चरण है (फिर मानव व समाज को दुनिया से चालक और सवारी, सवारी और चालक के संबंध रूप से सदैव रहे हैं और रहेगें।) समाज का अस्तित्व निर्माण मानव द्वारा होता है और मानव पर बने बनाये समाज का बहुत प्रभाव पड़ता है जिसका स्वरूप हम हर काल से, युग से, हर देश से, समाज में वर्ण, वर्ग भेद, भेद से भी उपभेदों से देख रहे हैं। इन भेदों का विकास समाज की गति को गतिहीनता की ओर तेजी से दौड़ाता है और इससे समाज की परम्पराएँ जड़ होते होते कुप्रथाओं और रूढ़ियों में बदल जाती है। जब रूढ़िग्रस्त समाज गतिहीनता की अवस्था से परिवर्तित काल में भी अपने पुराने अस्तित्व में बने रहना चाहता है तब समाज अधोगति की ओर लुढ़कने लगता है। उसका अस्तित्व खतरे में आ जाता है।

समाज की गतिशीलता उसमें रहने वाले लोगों की चेतना के कारण ही संपन्न होती है। यह चेतना बहुआयामी है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक चेतना ही समाज को उन्नयन की ओर उन्मुख करती है। चेतना के बहुआयामी स्वरूप एक दूसरे से जुड़े रहते हैं जैसे शरीर और उसके विभिन्न अंग। कुछ निश्चित कर्मों से अलग होकर किसी वस्तुगत नए ज्ञान के उत्पादन के लिए विशेष परिस्थितियों में शामिल होता है।

हिन्दी विश्व कोश में चेतना की तीन परिभाषाएँ बतायी गयी है। ज्ञानात्मक, भावनात्मक और क्रियात्मक। भारतीय दार्शनिकों ने इसे सच्चिदानंद रूप कहा है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के विचारों से उक्त विशेषता की पुष्टि होती है। चेतना वह तत्व है जिसमें ज्ञान के भाव को और व्यक्ति अर्थात् क्रिया शीलता की अनुभूति होती है। उसके प्रति प्रिय या अप्रिय भाव पैदा होता है और उसके प्रति इच्छा पैदा होती है, इसके कारण या तो उसे हम अपने समीप लाते है या उसे अपने से दूर हटाते हैं। इससे मनुष्य की 'चेतना' की ज्ञान, भाव, क्रिया की विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। जिनसे मनुष्य किसी वस्तु या पदार्थ के बारे में भी धारणा बनाता है। मनुष्य अनुभव से चिंतन तक एक निश्चित वस्तुपरक और मानसिक प्रक्रिया से होकर पहुँचता है और चेतना का संधान करता है।

मानवीय चेतना को समय और व्यक्ति सदैव चुनौती देते रहे हैं और यही कारण है कि उसकी गति अवरूद्ध हुए बिना आगे बढ़ती रही है। आज मानव संकट से भी तीव्र गति से विकास की ओर अग्रसर हो रहा है। सभी मनुष्यों की प्रवृत्ति एक सी नहीं रहती एक अकेला मानव भी जीवन पर्यन्त अपने विचारों, व्यवहारों को एक सा नहीं रख पाता। समय के साथ उसकी चेतना से परिवर्तन होता रहता है और इस आधार पर उसके व्यवहार ओर विचार बनते बिगड़ते रहते हैं। अन्य समस्त चेतनाएँ व्यक्ति की चेतना से संबंधित होने के कारण उसकी चेतना के अनुरूप ही बदलती रहती है।

चेतना जल है जिसमें सदैव प्रवाह का होना आवश्यक है अन्यथा उसका अस्तित्व नष्ट हो जाता है। जल चाहे प्रदूषित हो या स्वच्छ। प्रवाह से विशेष अंतर नहीं आने पाता अन्यथा जो प्रवाह के साथ आगे बढ़ने योग्य नहीं रह जाता है वह वही पर दूर जाता है जबकि कुछ अन्य नये तत्व आसपास से आकर उसमें मिलते चले जाते हैं।

बहुत सी परम्पराएं जो कालान्तर से जीवन का अंग बन जाती है, परन्तु समय के अनुकूल नहीं रह पाती हैं कभी-कभी जड़ समाज को चेतना, गतिशीलता को ऊर्जा देने का कभी-कभी प्रथाओं के शत्रु रूप से हमेशा सावधान रहकर युद्ध करते रहकर ही अपने समाज की रक्षा की जा सकती है। लेखक कभी भी अपने इस कर्तव्य के प्रति अपेक्षापूर्ण नजरिया नहीं रख सकता वरना शत्रु के पैर मजबूत हो जाने पर उसे उखाड़ना बहुत मुश्किल हो जाता है। यह कार्य साहित्य अपने प्रारंभिक रूप से ही कर रहा है पहले कवि, उपदेशक, नीतिकार, कहानीकार समाज की बुराइयों को मिटाने के लिए काव्य, उपदेश, नीतियाँ, कहानियाँ आदि रचते थे, जिनके माध्यम से मानव समाज को अच्छे बुरे के भेद का ज्ञान कराते थे। कबीर, तुलसी, रहीम, वृन्द ने अपने काव्य के माध्यम से, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, माधवाचार्य जैसे संतों ने अपने उपदेशों से चाणक्य, अकबर, अशोक आदि ने अपनी नीतियों से समाज को अच्छे आदर्श देने का प्रयत्न किया। समाज के रूप में संगठित बनाए रखने में सहयोग देना चाहा।

विभिन्न विदेशियों के आक्रमणों से अस्थिरता का आगमन भारत की सभ्यता व संस्कृति में हुआ इस अस्थिरता का कारण उन विजयी शासकों को अपनी सभ्यता, संस्कृति को अति त्वरा के साथ भारतीयों पर थोपने की इच्छा के कारण थी जो हर बदलते शासक के साथ बदलती जाती थी और इसमें अस्थिरता आ जाती थी। दीर्घकाल तक किसी एक की सत्ता में बने रहने का अवसर न मिलने के कारण संस्कृति व सभ्यता में हर नए शासक ने उनकी अवहेलना की ओर अपनी समस्याएँ थोपीं। इस हालत में भारत में जो सभ्यता संस्कृति बनी। वह अविकसित, अपूर्ण, अबौद्धिक तत्वों को लिए हुए थी और वैसे ही समाज में चलती आ रही थी। इनसे जिन लोगों को लाभ हो रहा था। उन्होंने कुछ और कट्टर रूढ़ियाँ, मान्यताएँ इनसे जोड़ दी। जिस बुद्धिजीवी वर्ग ने इनके पीछे छिपे स्वार्थ को पहचाना उसने समाज जाग्रत करना चाहा इनके चंगुल से बचाने का प्रयत्न किया।

सभ्यता के परिवर्तन के साथ ही समाज को जाग्रत करने की पद्धतियाँ भी बदली। प्रेस के प्रचार ने इसमें और ज्यादा सहयोग दिया। अन्य साहित्यकार बिना जनता के सामने आए ही अपने विचारों को दूर सुदूर प्रान्तों में भी पहुँच सकता है। क्राँति का बीज डाला जा सकता है।

चेतना की व्याख्या

चेतना ही जीवन है जिसका अभाव 'जड़' शब्द से परिभाषित किया जाता है। चेतना संसार के हर प्राणी में होती है। पर इस चेतना का रूप मानव तथा अन्य प्राणियों में भिन्न होता है। अन्य प्राणियों की चेतना भोजन, जीवन और सुरक्षा तक ही सीमित होती है पर मानव की चेतना इन तीनों के साथ-साथ कुछ अन्य क्षेत्रों में भी फैली रहती है। प्रारंभ में तो शायद मनुष्य की चेतना भी अन्य प्राणियों की ही तरह थी पर काल ओर विकास की गति के साथ चेतना के क्षेत्रों में भी विकास होता गया।

वर्तमान समाज में पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, शैक्षिक आदि अनेकों चेतनाओं का अस्तित्व दिखता है और इनमें से किसी का भी अभाव समाज को असंतुलित कर सकता है। जिस प्रकार एक बीज चाहे वह घर में लगा हो, पार्क में, बगीचे में, जंगल में, कहीं भी क्यों न हो हवा, पानी, मिट्टी, रोशनी पाकर वृक्ष का रूप लेने लगता है जिसमें फूल लगकर फल में बदल जाते हैं और पक जाते हैं परिणाम स्वरूप फिर अनेक बीज तैयार हो जाते हैं जो कि उपयुक्त भूमि में पढ़कर फिर से नये वृक्षों को जन्म देते हैं। उसी प्रकार चेतना का बीज रूप प्रति मानव में लुप्त रूप में विराजमान रहता है जिसे उपयुक्त भूमि, वातावरण और समय का इंतजार रहता है। सामाजिक पारिवारिक व्यवहार-व्यापारों में बढ़ती न्यूनताएँ, कुप्रथाएँ, आडम्बर, कुरीतियों, मौलिकता का क्षरण आदि चेतना रूपी बीज के लिए पानी, खाद, रोशनी, वायुमण्डल का निर्माण करती है जो कि चेतना के वृक्ष को पनपने के लिए तैयार करती है। यह बात और है कि अलग-अलग समय में, अलग-अलग स्थानों पर चेतना भिन्न अंश में पनपी, भिन्न रूप में पनपी। जिस तरह जंगल और बगीचे के पेड़ में भिन्नता होती है उसी प्रकार काल, क्षेत्र, वर्ग आदि के आधार पर चेतना भी भिन्न लगती है यह आधार सबका लगभग एक ही सा होता हे।

चेतना गत्यात्मक होती है अतः यह परिवर्तन का संकेत है। जिस किसी भी क्षेत्र में चेतना का आगमन होगा वह सजग क्रिया, इच्छा शक्ति आदि से रहित तो हो हीं नहीं सकती।

''अंतरंग संगोष्ठी दो मित्रों का वार्तालाप''

एक : जीवन का प्रथम मूलाधार क्या है।

दूसरा : गर्भ से धरती का अवतरण।

एक : नहीं, नहीं सब कुद नहीं है।

दूसरा : यही सब-कुछ है। अस्तित्व ही नहीं होगा तो व्याख्या क्या, परिभाषा क्या, प्रश्न क्या, उत्तर क्या?

एक : विज्ञान सर्वोपरि है। उसने बहुत कुछ झुठला दिया है।

दूसरा : नहीं, धारणा गलत है। विज्ञान, मनुष्य चेतना की उपज है। मस्तिष्क की ऊर्जा को जिसने नहीं पहचाना, उसके लिए उसका अस्तित्व ही अन्चीन्हा है।

विवाद चलता रहा अंततः एक को स्वीकार करना पड़ा। अस्तित्व ही नहीं है तो व्याख्या किसकी।

- अस्तित्व अवतरण है, अवतरण के बाद मस्तिष्क नहीं तो मनुष्यता की मूल-चेतना विश्व श्रेष्ठता कही।

- धरती प्राणी-जगत का चारागाह है।

- इस चारागाह का अनंत विस्तार है। किन्तु सीमातीत और सीमाबद्ध प्राणी मात्र एक है- मनुष्य-मात्र मनुष्य।

- मनुष्य की श्रेष्ठता है मात्र मस्तिष्क।

- मनुष्य के मस्तिष्क ने ही विश्व के विस्तीरण में धुरी का काम किया है।

- मस्तिष्क ही मूलाधार बना है ओर अपने को स्थिर बनाये रखने के लिए उसने मेरूदंड का सहारा लिया है।

- मेरूदंड दूषित होगा तो शरीर अपंग बनेगा। अपंग शरीर में ऊर्जावान मानसिक चेतना नहीं होती।

- मानसिक चेतना ही समूचे शरीर का प्राणाधार है। मानसिक चेतना ही सहस्त्र सूर्यों को पहचान देती है और उनसे प्राणतत्व लेकर अपनी पथ यात्रा में निरन्तरता चिरंतरता और शाश्वतता का अध्याय लिखती है।

- ज्ञान-विज्ञान के समूचे आविष्कार, उनका वैभव और कलात्मकता के आगार, मानव-मस्तिष्क के चरण-चिन्हों को पूजाघर की तरह वंदनीय स्वरूप में स्वीकार करते हैं और स्वीकार के पश्चात् ही विकास-मार्ग की ओर अग्रसर होते हैं।

- स्पष्ट है अस्तित्व के बाद मस्तिष्क।

- मस्तिष्क के बाद चेतना।

- चेतना के बाद शरीर-पोषण।

- शरीर पोषण के साथ ही एक साथ अनेक अंकुर उपजते हैं, मानवीय संवेदनाएँ, दैहिक प्राण-इच्छायें और फिर क्रियाशीलता के शालीन और विकृत परिवेश। ..... पानी पर हस्ताक्षर कीजिए सागर-महासागर पर अपने पदचिन्ह बनाने की चेष्टा कीजिए, आकाश मार्ग से आकाश गंगा और ग्रह नक्षत्रों तक पहुँचने का उपक्रम कीजिए शक्ति की चेतना काँच को काटने वाली हीरे की कनी होगी तो हवाएँ भी सहचरी बनेगी और भाषाएँ मात्र अभिव्यक्ति की माध्यम रहेगीं।''[27]

मनुष्य को जन्म लेने के बाद ही किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और वह जीवन यापन के लिए जिस दौर से गुजरता है इस प्रसंग में मैंने इन समस्याओं को उठाने का प्रयास किया है।

''जीवन के स्थायीकरण के बाद भूख और प्यास की आकांक्षाएँ - इच्छाएँ वैसे ही उठती है जैसे धरती से कम्पन्न।

कंपन में परिवर्तन के पर्वत, पर्वत में क्षितिज के शिला लेख, शिलालेखों में कलात्मकता और कलात्मकता से किसी अदृश्य-दृश्य अँगुलियों के ज्ञान-बोध।

- भूख और प्यास क्षण-भंगुर नहीं है। वह निरन्तरता में विश्वास रखती है।

- भूख और प्यास की यात्रा-कथा जीवन के अशेष होने तक निरन्तर रहती है।

- चलने के इस उपक्रम से ही व्याख्याएँ उदित हुईं हैं।

- व्याख्याएँ वैसे ही उदित होती हैं जैसे वेदों के बाद पुराण और पुराण के बाद संहिताएँ।

- सत्य को स्वीकारा जाए तो मूल-धारा यदि वेद आप में महान् मस्तिष्क की फेंकी हुई छुद्र ऊर्जा शब्द शक्ति है।

- शब्द बनेगा तो अर्थ निकलेगा। निकलेंगे ही नहीं निकाले भी जायेंगे। निकाले भी निकाले भी नहीं जायेगें उनके अर्थ बोध अपना-अपना गंतव्य खोजने में लग जायेंगे। आविष्कार की प्रक्रिया प्रारंभ होगी।

- आविष्कार ने ही सभ्यता के द्वार खोले हैं। उसी आविष्कार ने नाश-विनाश का खेल गिलहरी की तरह सहज सौन्दर्य और छलनाशी बनाकर मनुष्य के सामने प्रस्तुत हुए हैं।

- प्रस्तोता का अध्याय महालम्बी है। उसने अपनी क्षमता का भरपूर उपयोग किया है और आदमी को आदमी से बाँटा है, देश और देशों को अभिव्यक्ति दी है। धरती को छैनी और हथौड़े से तराशा है और उसे अपनी जन्मावस्था में नहीं रहने दिया।

- यही क्षण है, जहाँ आकर विभाजन हुआ है :-

एक स्वर में स्वरों का
मैं से मैं-मैं का
हम से मैं का
मैं-मैं से तू का
तू से तू-तू का

- क्या नहीं बचा। सभी विघटित हुए, विगलित हुए, लगाव-अलगाव आया और विभाजन के वाष्प कणों ने ओस कणों का भक्षण आरंभ कर दिया।

- शांति यहीं टूटी है। युद्ध के द्वार यहीं खुले हैं। चेतना यहीं मूक हुई। शब्दों ने यहीं अर्थ खोया है। इतिहास ने यही से अनर्थ को सार्थकता का शोक-कवच पहनाया है।

- ज्ञान-विज्ञान के सभी अभेदय आयाम टूटे हैं यही आकर। क्या कुछ नहीं हुआ, क्या कुछ नहीं हुआ, क्या-कुछ निरंतरता से नहीं बदला और क्या, क्षमा, माया, ममता तथा शक्ति सभी का अभिषेक नहीं किया गया।

- अनंत है यहाँ- पहुँचकर अध्यायों का लिखना।

- धर्म ग्रंथों से लेकर विज्ञान-ग्रंथों तक सभी अपूर्ण है। अपनी अपूर्णता को स्वीकारते हैं वे, अतः विराम हो यहाँ।

- विराम आराम नहीं है।

- अवतरण की अवधारणा का अनंत इतिहास है। उसके साथ जुड़े यक्षण का अक्षय अनवरत इतिहास है।"[28]

समकालीन समाज सन्दर्भ और पारिवारिक चेतना

समाज व्यक्ति समूह से निर्मित, विशिष्ट उद्देश्य से बनायी गयी, संस्था है। व्यक्ति समूह के द्वारा निर्मित और विकसित इस संस्था का उद्देश्य व्यक्ति समाज की रक्षा, उन्नयन और हित है। यह उद्देश्य व्यक्ति परक न होकर आवश्यक रूप से सार्वजनिक होता है। समाज का उत्तर दायित्व होता है कि वह अपने बीच रहने वाले व्यक्तियों के मध्य पारिवारिक सहयोग का भाव विकसित करें ताकि उनमें एकता, शांति, सौहार्द स्थापित हो सके। समाज में रहने वाले व्यक्तियों से आशय और अपेक्षा की जाती है कि वे सार्वजनिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए शांति पूर्वक मिलकर कार्य करें। शताब्दियों पूर्व समाज के निर्माण के पीछे इस प्रकार की भावना कार्यरत थी। तब से अब तक समाज की अवधारणा में अत्याधिक परिवर्तन आ चुका है। आज विश्व में विशिष्ट समाज, समुदाय या राष्ट्र मात्र ही 'समाज' की संज्ञा से अभिहित नहीं होते, बल्कि वर्तमान परिस्थितियों में संपूर्ण विश्व ही एक समाज का रूप धारण करता जा रहा है।

समाज एक व्यापक शब्द है। परिवार से लेकर विश्व व्यापी मानव समूह तक को 'समाज' के विभिन्न रूपों के रूप में ग्रहीत किया जाता है। लेकिन 'समाज' शब्द का वस्तुपरक आशय ऐसे अधिसंख्या व्यक्तियों के समूह से होता है। जिनके उद्देश्य स्पष्ट और स्थायी होते हैं। समाज के बीच समुदायों का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए भारतीय जनता एक समाज है जिसे हम भारतीय समाज कहते हैं। लेकिन इसके अंतर्गत कार्यरत विभिन्न संस्थाऐं उसके समुदाय कहीं जायेगी। दरअसल, किसी विशेष कालखण्ड में एक विशेष स्थान पर रहने वाला व्यक्ति का समूह उनके सभी मूल्यों से बँधने पर ही समाज की संज्ञा पा सकता है।

किसी भी परिवार के निरन्तर उन्नयन के लिए आवश्यक है कि उसमें अपने युग और परिस्थितियों के अनुकूल अपने लोगों के हितों की रक्षा करना और विकास की दृष्टि से पारिवारिक चेतना अजस्त्र रूप से प्रभाहित होती रहे। धर्म, राजनीति, भाषा तथा अर्थ व्यवस्था आदि वे मूल तत्व है जो संभाग की एक रूपता को आधार प्रदान करते हैं। इन तत्वों के संबंध में कभी-कभी वैषम्य या असन्तुलन के विरूद्ध जन चेतना विकसित होती है तो उस मनीषी विशेष अथवा वर्ग की सामाजिक चेतना का बाहक और स्त्रोत समझना चाहिए।

"परम्परा का केन्द्र मनुष्य है। मनुष्य का तात्पर्य उसके विचार एवं व्यवहार से है। विचार एवं व्यवहार का स्वरूप एवम् क्षेत्र सामाजिक है और समाज गतिशील है। इसका आशय यह है कि समाज की गतिशीलता व्यक्ति के विचार एवं व्यवहार गति एवं हलचल पैदा करते हैं जो कि अर्थवान होने पर पूरे समाज को गतिमय बनाने में सहयोग देते हैं जैसे एक लहर दूसरी लहर को पैदा करती है और वायु के सहयोग से पूरा क्षेत्र लहरमय हो जाता है। व्यक्ति अकेला पूरे समाज को आंदोलित नहीं करता क्योंकि आंदोलित होने वाले घटकों की मानसिक स्थिति एवं सामाजिक परिस्थितियों की अनुकूलता के बिना कोई सा भी विचार एवं व्यवहार सामान्य या सामाजिक नहीं बनता। अतः व्यक्ति का महत्व एक बीजदायक माध्यम की ही तरह है, जबकि शेष समाज के घटक व्यक्ति तथा सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक यह भौतिक परिस्थितियां किसी बीज के लिए मातृ स्वरूप या भूमि स्वरूप है। इसका आशय यह नहीं है कि सामाजिक प्रवाह व्यक्ति का महत्व नहीं है। व्यक्ति के निरपेक्ष आस्तित्व एवं महत्व पर बल देना गलत है। व्यक्ति के विचार एवं व्यवहार का आकलन समग्रता में करना अनिवार्य है क्योंकि किसी भी महान पुरूष की कल्पना बिना तात्कालिक परिस्थितियों के नहीं की जाती। वास्तव में व्यक्ति परिस्थितियों का पुत्र है। जिस तरह अपनी नौका नदी के बहाव से डाल देने से सरलता से पार लग जाती है इसी तरह जब कोई व्यक्ति सामाजिक प्रवाह में पड़कर अपने पुरूषार्थ का भरपूर प्रयोग करता है तब उसे सफलता एवं महानता मिलती है। पुरूषार्थ के बिना सामाजिक प्रवाह व्यक्ति को नष्ट कर देता है। अतः परिस्थितियाँ तथा पुरूषार्थ किसी व्यक्ति की सफलता के मापदण्ड हैं। जितने परिमाण में ये उपलब्ध होते हैं। उसी के अनुरूप सफलता की ऊँचाई का निर्णय किया जाता है। अतः न व्यक्ति महत्व हीन है न ही सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ निरर्थक है।

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि परम्परा के निर्माण में व्यक्ति, समाज एवम् परिस्थितियों का योग अनिवार्य है।"[29]

पारिवारिक चेतना के माध्यम से परिवार में व्याप्त प्रतिकूल परिस्थितियों के समाहार का ही प्रयत्न नहीं होता, बल्कि वह नए ज्ञान से पोषित किसी नयी विचार धारा की वाहक भी होती है। जब यह नई विचारधारा व्यवहारित होकर परिवार की प्रगति में सहयोग देती हैं तो यह नयी प्रगति ही पारिवारिक चेतना का ही परिणाम होती हे। यहीं पर यह भी स्थानीय है कि सामाजिक चेतना का ही परिणाम होती है। यही पर यह भी स्मरणीय है कि सामाजिक चेतना की मूल प्रवृति समष्टिवादी है अर्थात् इसके अंतर्गत व्यक्ति की अपेक्षा समग्र परिवार को एक ही रूप में देखने का भाव निहित है। इसी संदर्भ से यह भी माना जाता है कि व्यक्ति के अधिकार और उसकी शक्ति प्रतिबंधात्मक है। उस पर समाज का सामूहिक नियंत्रण रहता है। यह नियंत्रण निषेधात्मक नहीं है। उल्टे इसी से व्यक्ति का विकास अनिवार्य और अवश्यम्भावी हो जाता है। व्यक्ति के विकास ओर युगीन क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए यह भी आवश्यक है। व्यक्ति के विकास से ही

पारिवारिक विकास संभव हो सकता है। जब-जब पारिवारिक चेतना विकसित होती है और सामाजिक सुधार की आकांक्षा बल पकड़ती हैं और तब-तब व्यक्ति वर्ग चेतना से अस्युक्त होता चलता है और उसकी सक्रियता पारिवारिक चेतना विकसित होती है और सामाजिक सुधार की आकांक्षा बल पकड़ती है। तब-तब व्यक्ति वर्ग चेतना से असपृक्त होता चलता है। और उसकी सक्रियता स्वस्थ्य पारिवारिक क्रांति की भूमिका का सृजन करने लगती है। दिलचस्प बात यह है कि पारिवारिक क्रांति की भूमिका वे व्यक्ति तैयार करते है। जिनको रूढ़ परम्पराओं और निष्प्राण मान्यताओं की पूरी समझ होती है। इनका मूलोच्छेदन करके में व्यक्ति ही नयी चेतना के सूत्रधार की भूमिका निभाते हैं। और इस प्रकार राष्ट्र और समाज को नया स्वरूप सार्वजनिक हितों से अपूर्ण रूपाकार प्रदान कर सांस्कृतिक जीवन को नवोन्मेष से समृद्ध बनाती है। अनन्तर इसी से सम्बद्ध समाज के साहित्य के विभिन्न रूपों, उद्देश्यों ओर शैलियों से परिवर्तन होता है। और उनमें भी रचनात्मकता नवीनता का उन्मेष परिलक्षित होने लगता है।

व्यक्ति और परिवार के परस्पर संबंधों को भी यही पारिवारिक चेतना रूपायित करती है। पारिवारिक चेतना का एक विशिष्ट चरित्र होता है। जो आवश्यक रूप से व्यक्ति के चरित्र से संबद्ध होता है। चेतना वह शक्ति है जो व्यक्ति को जीवन्त बनाये रखती है। और चरित्र वह व्यवहार है अथवा क्रिया है जिसके माध्यम से जीवन और परिवार की वास्तविकता को व्यक्त किया जाता है। किसी भी व्यक्ति, परिवार, समाज की तथा राष्ट्र की जीवन्तता का प्रमाण यह चेतना ही होती है। इसी के माध्यम से जीवन में व्याप्त असंख्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी में व्यक्ति परिवार की तथा समाज की एकात्मकता प्रमाणित होती है। और यही वह जीवनादर्शों और जीवन मूल्यों का अर्जन और नियमन करती है। समाज में व्यवहारित नैतिकता, दर्शन, साहित्य, विधि-विधान एक प्रकार से संस्कृति के विभिन्न रूप ओर तत्व माने जाते हैं। लेकिन इन सबका उद्‌गम व्यक्ति चेतना ही है। जिसे उदार अर्थों में सामाजिक चेतना का आधार 'सत्य' की सामाजिक चेतना के माध्यम से व्यक्ति की वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी बनाता है। और उसे उच्चत्तर भूमिका प्रदान करता है। व्यक्ति समाज आज जिस स्तर तक ऊँचा उठ सका है उसके पीछे इसी सत्य समन्वित सामाजिक चेतना का विशेष योग है जो सामाजिकों को संगठित करके व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सार्वजनिक हितों का समर्थन और पोषण करती है।

''समाज एक अत्यंत व्यापक इकाई है जिसमें रचनाकार जीता है। लेकिन वह इकाई छोटे-छोटे वर्गों में विभाजित रहती है। रचनाकार उन्हीं वर्गों में से किसी एक से संबंद्ध रहता है। इस वर्ग विशेष की विशिष्टताएँ न्यूनताएँ परम्पराएँ, रूढ़ियाँ, विश्वास, प्रवतन उसे निरन्तर प्रभावित करते चलते हैं। इन सबसे उसकी मानसिकता के एक अंश का निर्माण होता है। इनमें उनकी दृष्टि एक निश्चित आकार ग्रहण करती है। दूसरे उसे अपने परिवार से कुछ संस्कार मिले होते हैं। इन संस्कारों को हम परम्परा में प्राप्त पूँजी, भी कह सकते हैं। लेकिन रचनाधर्मिता के निर्वाह के लिए मात्र सामाजिक वर्गीय स्थितियों

का अवलोकन और अध्ययन तथा संस्कार ही सब कुछ व्यक्तिगत अनुभव होते हैं जो उसकी मानसिकता को एक विशिष्ट दिशा में प्रभावित और रूपायित करते हैं। रचनाकार दूसरे व्यक्तियों के अनुभव को आत्मसात करता है। ये अनुभव भी उसके हाल ओर संवेदन को समृद्ध बनाते हैं।''[30]

राजा राममोहन राय ने समाज सुधार के लिए ब्रह्म समाज की स्थापना की। राजाराम मोहन राय युग के उठते हुए शिक्षित मध्यम वर्ग के प्रतीक थे। आधुनिक सामाजिक विचारों को प्रतिष्ठत करने के लिए उन्होंने ब्रह्म समाज की नींव डाली। जकारिया का कथन है कि ''उस समय हिन्दु समाज तथा भारतीय राजनीति को आधुनिक रूप देना सबसे बड़ी देश सेवा समझी जाती थी।''[31]

राजाराम मोहन राय ने यूरोपीय विचार धारा के प्रगतिशील तत्वों को पहचाना और उसे भारतीय रूप देने का प्रयत्न किया। उन्होंने सर्वप्रथम सतीप्रथा को बंद किया। उन्होंने बतलाया कि बंगाल में सतीप्रथा दस गुनी अधिक है जिसका कारण बहुविवाह प्रथा है। बहुविवाह का कारण नारी का संपत्ति के अधिकार से वंचित रहना है। पिता अपनी पुत्री के लिए शादी के रूप में आर्थिक स्वावलम्बन ढूँढता है। तथा पति अपनी संपत्ति सुरक्षित रखने के लिए, पुत्र प्राप्ति के लिए कई शादियों की छूट पा लेता है वस्तुतः यह क्रांतिकारी विचार था जिस पिछले सुधारक भूल गये। यही कारण है कि नारी को अन्य अधिकार मिले लेकिन उसे सांपत्तिक अधिकार स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही प्राप्त हुए। राजा राममोहन राय ने प्राचीन शास्त्रकारों की संपत्तियाँ उद्धत करके बतलाया था कि प्राचीन समय में भी लड़की की चौथाई भाग तथा पति की मृत्यु के बाद माता तथा पुत्र का सम्पत्ति पर समान अधिकार था जिसे पुरूषों ने बाद में स्वार्थवश छीन लिया। उन्होंने बहुविवाह का विरोध किया तथा विधवा विवाह की माँग की। कुलीन ब्राह्मण होते हुए अंधविश्वासों को चीरकर काला समुद्र पार करके वह यूरोप गये थे। वस्तुतः राजाराम मोहन राय का महत्व इसीलिए है कि उन्होंने सामाजिक समस्याओं के समय अनुसार समाधान प्रस्तुत किये थे। राजाराम मोहन राय के बाद ब्रह्म समाज का नेतृत्व देवेन्द्र नाथ टैगोर के हाथ में रहा लेकिन सामाजिक सुधार की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति न थी। केशव चन्द्र सेन ईसाई धर्म तथा समाज की ओर अधिक आकर्षित थे, समाज सुधार की ओर ब्रह्म समाज नाम की एक अलग संस्था बनायी। इनके सामाजिक सुधार का मुख्य केन्द्र नारी की समस्याएँ थी। नारी शिक्षा, विधवा विवाह, अंतर्जातीय विवाह का केवल प्रचार ही नहीं, वरन् उसे व्यवहारिक रूप भी दिया गया। रूढ़िवादी वर्गों के प्रबल विरोध होने पर भी उन्होंने अंतर्जातीय विवाह को मान्यता देने के लिए 1892 ई. में 'ब्रह्म मैरेज एक्ट' पास करवाया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने ईसाई मिशनरियाँ की भाँति सर्वप्रथम अकाल तथा महामारी से पीड़ित जनता में भोजन तथा धन बाँटकर मध्यमवर्गीय नेता के सम्मुख जन कल्याण की सेवा का आदर्श प्रस्तुत किया। दूसरी विशेष बात यह थी कि उन्होंने बाल विवाह का प्रबल विरोध किया। अंतर्जातीय विवाह स्वीकार करके वर्ण व्यवस्था का आधार ही हिला दिया।

इसी प्रकार महाराष्ट्र से 'परमहंस' सभा नाम की एक गुप्त संस्था थी जो सामाजिक सुधार का कार्य करती थी। 'फरकुहर' का कथन है कि "इस सभा का सदस्य वही हो सकता है जो ईसाई तथा मुसलमान का बनाया भोजन खा सके।"[32]

1867 ई. में केशव चन्द्र सेन की प्रेरणा से इसी सभा ने 'प्रार्थना समाज' को जन्म दिया। 'प्रार्थना समाज' के मुख्यतः चार उद्देश्य थे- जाति व्यवस्था समाप्त करना, विधवा-विवाह नारी शिक्षा का प्रचार तथा बाल विवाह का निषेध। 'प्रार्थना समाज' ने इन समाजों की भांति अन्य समाज की रचना नहीं की वरन् हिन्दू समाज में ही रहकर उसका सुधार करता रहा। उसके सामने सदैव "मनुष्य की सेवा में तत्पर ईश्वर का प्रेम है" आदर्श रहा।"[33]

19 वीं शताब्दी में रूढ़िवादी हिन्दू-समाज का विरोध करने वाले अधिकांश सुधारक संकीर्ण तथा रूढ़िवादी ब्राह्मण ही करते थे। "वर्णव्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण का कार्य विद्या पढ़ाना था। अतः अपनी सहज प्रवृत्ति के कारण अन्य जातियों को अपेक्षा ब्राह्मण जाति अंग्रेजी शिक्षा का अध्ययन पहले से ही करने लगी। अतः यह स्वाभाविक था कि यह नवीन विचारों का नेतृत्व करने लगे।

19 वीं शताब्दी के सभी आंदोलनों की मुख्य समस्या नारी को समाज में सम्मानित स्थान दिलाने की मांग थी। इन सुधारकों के अथक् परिश्रम का ही यह परिणाम है कि जो नारी 60 वर्ष पूर्व सामाजिक समारोह के रूप में सती होकर आत्महत्या करने के लिए बाध्य भी, वही शताब्दी के अंतिम वर्षों में सामाजिक रंगमंच पर आकर अपनी समस्याओं पर स्वतंत्रता पूर्वक विचार व्यक्त करने लगी थी।"[34]

कहानीकारों, उपन्यासकारों का अपना-अपना अलग नजरिया होता है। अपनी बात रखने के लिए वे अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं। भगवती चरण वर्मा लिखते हैं-"धर्म के रूप दो होते हैं, एक सामाजिक दूसरा वैयक्तिक दोनों का साधारण रूप से पालन करना हर एक गृहस्थ का धर्म है। समाज छुआछूत को मानता है, समाज वर्गों में ऊँचनीच का भेदभाव करता है यह हमें स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि हम सब समाज द्वारा शासित है, हम सबकी रक्षा समाज करता है। इन सामाजिक नियमों को तोड़ा नहीं जाता, इन नियमों को केवल बदला जाता है, और उन्हें बदलने की क्षमता महान् त्यागियों और तपस्वियों से ही मिलेगी, हम जैसे साधारण गृहस्थी में नहीं। इस सामाजिक धर्म के बाद वैयक्तिक धर्म आता है - दया, त्याग, ममता, प्रेम, अहिंसा, सत्य आदि का। लेकिन यह धर्म व्यक्तिगत जीवन से संबंद्ध है, समाज से नहीं। हम वैयक्तिक धर्म का पालन करते हुए सामाजिक धर्म का पालन करने को बाध्य हैं यदि सामाजिक व्यवस्था के आगे हम सिर नहीं झुकाते तो हम अराजकता के पाप के भागी होते हैं और सामाजिक प्राणी होने के कारण हम गृहस्थ लोग अराजक बन ही नहीं सकते।"[35]

मैने जगह-जगह पर ऐसे प्रसंगों का उल्लेख किया है जो पारिवारिक चेतना को उभारते हैं। "मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान् विजय है। एक शब्द में लय कहूँगा-जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी।"[36]

भारतीय समाज में संयुक्त परिवार प्रणाली का काफी महत्व रहा है। लेकिन स्वतंत्रता के बाद स्वच्छंद जीवन जीने की ललक ने इस व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया। हालाकि नई पीढ़ी को इसके लिए दोष दिया जाता है पर एक सच्चाई यह भी है कि हमारे बुजुर्ग भी संयुक्त परिवार के टूटने के लिए कम दोषी नहीं है। प्रो. जैनेन्द्र कुमार के अनुसार-'' बुजुर्ग परम्परावादी है। वे प्राचीन जीवन मूल्यों से जोंक की तरह चिपके हुए हैं। उन्हें परिवार का मुखिया होने का दम है। अनुशासन के नाम पर रोब गाँठते हैं। युवा पीढ़ी को अपनी लाठी से हाँकना चाहते हैं। यही वजह है कि युवा पीढ़ी उनसे दूर होती जा रही है।

आधुनिक दृष्टि ने समाज के पिछड़े वर्गों के प्रति विशेष सहानुभूति जगाई है और उनकी समस्याओं से दो चार होने के लिए निरन्तर चर्चा परिचर्चा होती रहती है। इसी में नारी जागरण और नारी के अधिकारों को संरक्षण की बात निरन्तर रहती है। हमारी बीसवीं शताब्दी के विविध राजनीतिक, सामाजिक आन्दोलन इस कथन के प्रमाण है। जीवन के रागात्मक संबंधों की मानक अभिव्यक्ति साहित्य है। साहित्य की सबसे अधिक सशक्त विधा आज कथा साहित्य, कहानी, तथा उपन्यास ये जीवन को उसके समूचेपन में समेट पाने से समर्थ है। अब हम देखेंगे कि आधुनिक दृष्टि के अंतर्गत नारी जीवन कितना और किस प्रकार हिन्दी कथा साहित्य विशेषकर उपन्यास से आ पाया है।

हिन्दी उपन्यास को प्रौढ़ता मुंशी प्रेमचंद के हाथों प्राप्त हुई है। प्रेमचंद के उपन्यासों में नारी के प्रति सहानुभूति जाग्रत करने का निरन्तर प्रयत्न रहा है। उनके 'सेवासदन' में नायिका सुमन अनमेल विवाह के दुष्परिणाम में वेश्या बनती है और फिर आधुनिक संस्कारों के प्रभाव स्वरूप उस कुराह से लौटकर सामान्य जीवन जीने की दिशा में संलग्न है। प्रेमचंद की अधिकांश नारियाँ पारिवारिक है और इसी भूमिका में रहकर सहानुभूति अर्जित करना चाहती है। इस प्रकार परिवार के भीतर रहकर नायिका निर्मला है। वह दहेज के अभाव में बेमेल विवाह का शिकार होती है और पग-पग पर पीड़ित होकर अंततः विनष्ट हो जाती है। 'कर्मभूमि' की सुखदा और पति अमरकांत ने पारस्परिक समझ के अभाव में सहज स्नेह का संबंध स्थापित नहीं हो पाता। यह कशमकश उपन्यास में निरन्तर छाई रहती है इस बहाने उपन्यास में एक नारी की अपनी अस्मिता की तलाश में भटकते दिखाया है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रेमचंद के कथा साहित्य में पारिवारिक चेतना की झलक स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है।

''बुजुर्गों का स्नेह ही संयुक्त परिवार की अवधारणा को सफल बना सकता है, हठधर्मिता नहीं।

भारतीय संस्कृति समष्टिगत है। यह सामूहिकता की पोषक है। इसमें जीव मात्र के कल्याण की भावना निहित है। भारतीय संस्कृति का उद्‌घोष है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा काश्चिद् दुःख भाग भवेत्।।

अर्थात् सब सुखी हो, सब निरोग रहे। सबका कल्याण हो, कोई दुखी न हो। 'वसुधैवकुटुम्बकम्' के आदर्श पर चलने वाली भारतीय संस्कृति में 'परिवार' नामक संस्था को काफी महत्व दिया गया है। भारतीय समाज में गृहस्थाश्रम की बड़ी महत्ता और प्रक्रिया है। इसी आश्रम के अंतर्गत व्यक्ति पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हुए पुरूषार्थ को प्राप्त करता है और ऋणों से मुक्त होता है। इस प्रकार सामाजिक संगठन को महत्वपूर्ण इकाई परिवार है।

संयुक्त परिवार में माता-पिता, बहन-भाई, पति-पत्नी, पितामह और भाइयों की स्त्रियां बच्चे आदि होते हैं। भारत में संयुक्त परिवार की परम्परा वैदिक काल से चली आ रही है। 'ऋग्वेद' में एक मंत्र में पुरोहित वर-वधु को आशीर्वाद देते हुए कहता है तुम यहाँ इसी घर में रहो, विमुक्त मत होओ। अपने घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते हुए आनंद मनाते हुए संपूर्ण आयु का उपयोग करो।"[37]

इस प्रकार हम कह सकते है कि समाज और परिवार के बिना हम अपने आपको अकेला महसूस करेंगे। कितने ही कामों में हमें परेशानियाँ उठानी पड़ेगी। हमारी बहुत सी ऐसी जरूरतें हैं जो कि बिना परिवार व समाज के संभव नहीं है। परिवार ही व्यक्ति की प्रथम पाठशाला है। जिसमें रहकर ही वह आगे बढ़ना सीखता है। अतः समाज में रहना हमारे लिए बहुत जरूरी है।

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. *निराला की सामाजिक चेतना : डॉ. सुरेश आचार्य, पृ. 221*
   सत्येन्द्र प्रकाशन, 30 - पुराना अल्लापुर, इलाहाबाद- 211006 सन्- 1989
2. *बोल री कठपुतली : मालती जोशी, पृ. 75/76*
3. *दैनिक भास्कर (मधुरिमा) 4 दिसम्बर 1996*
4. *त्यागपत्र : जैनेन्द्र कुमार, पृ. 7*
   पूर्वोदय प्रकाशन, 7/9 दरियागंज, नई दिल्ली, 110002
5. *वही .....".....''..... पृ.-20*
6. *वही .....".....''..... पृ.-77/78*
7. *बड़े घर की बेटी, प्रेमचंद, पृ.-73*
8. *वही .....".....''..... पृ.-73*
9. *बलचनमा, नागार्जुन, पृ. 131/132*
   किताब महल 15, थार्नडिल रोड, इलाहाबाद/छठा संस्करण 1978
10. *वही .....".....''..... पृ. 131/132*
11. *गोदान, प्रेमचंद, पृ. -3*
12. *वही .....".....''..... पृ.-4/5*
13. *वही .....".....''..... पृ.-21/22*
14. *वही .....".....''..... पृ.-43/44*

15. वही .....“.....“..... पृ.- 142
16. हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 130
राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, पटना
17. झूठा सच, यशपाल, पृ. 10
लोक भारतीय प्रकाशन, 15-ए महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-1, नवम् संस्करण-1992
18. वही .....“.....“..... पृ.- 12
19. वही .....“.....“..... पृ.- 135
20. हिन्दी साहित्य कोश, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, भाग-1 पृ.-319
21. हिन्दी विश्वकोश, भाग-4 डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी, पृ. 282
22. वही .....“.....“..... पृ.- 282
23. हिन्दी विश्व कोश, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, भाग-1 पृ. 34
24. नई कविता के प्रतिमान, लक्ष्मीकांत वर्मा, पृ. 224
25. हिन्दी विश्व कोश, डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी, खण्ड-4 पृ. 283
26. साहित्य का उद्देश्य, मुंशी प्रेमचंद, पृ. 24-25
27. कादम्बिरी : फरवरी 1995 पृ. 12-15
28. वही .....“.....“..... पृ.- 16-17
29. वीणा : अप्रैल 1991 पृ. 14
30. साहित्य की सामाजिक भूमिका, डॉ. देवेश ठाकुर, पृ. 35
31. Rensoejt India गबीतमं 1993 पृ. 21
हिन्दी उपन्यास, समाज शास्त्रीय विवेचन : चण्डी प्रसाद जोशी, 1962 पृ. 2
अनुसंधान-प्रकाशन, 87/259 आचार्य नगर कानपुर
32. Mcderu religpous Dvements in India तिनीत, 1995
उद्युत - हिन्दी उपन्यास, समाजशास्त्रीय विवेचन : चण्डी प्रसाद जोशी
1962, पृ. 8/अनुसन्धान-प्रकाशन 87/259 आचार्य नगर, कानपुर।
33. Rensoejt India, गबीतमं 1993 पृ. 21
हिन्दी उपन्यास, समाज शास्त्रीय विवेचन : चण्डी प्रसाद जोशी,
1962 पृ. 8 अनुसंधान-प्रकाशन, 87/259 आचार्य नगर कानपुर।
34. उद्युत - हिन्दी उपन्यास, समाज शास्त्रीय विवेचन : चण्डी प्रसाद जोशी,
1962 पृ. 12 अनुसंधान-प्रकाशन, 87/259 आचार्य नगर कानपुर।
35. भूले बिसरे चित्र, भगवती चरण वर्मा : पृ. 16
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना
36. गोदान : प्रेमचंद, पृ-218
37. सरिता : मार्च (द्वितीय) 1996, पृ-143

◆◆◆

2

हिन्दी कथा-साहित्य में परिवार की भूमिका

मनुष्य मूलतः एक सामाजिक प्राणी है और सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए जो निर्धारित मान्यताएँ, मर्यादाएँ, परम्पराएँ और सामाजिक अनुशासन निर्धारित है उनसे वह बँधा हुआ है। परिवार समाज की इकाई है और मनुष्य के जीवन को सुरक्षित, सुसंस्कृत तथा सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए पारिवारिक इकाई अनिवार्य है। आर्थिक समृद्धि के बढ़ते दौर में परिवार अपना रूप बदल रहे हैं। संयुक्त परिवारों का परम्परागत परिवेश छिन्न-भिन्न हो रहा है इन परिस्थितियों में पारिवारिक चेतना की चर्चा करना अनिवार्य हो गया है.। मेरी तो यह मान्यता है कि परिवार से अलग रहने वाले लोग रूखे, बदमिजाज और चिड़चिड़े हो जाते हैं। पश्चिमी विचारों के बढ़ते हुए इस जमाने "खाओ पिओ और मौज करो" का नीति वाक्य सारे देश पर महामारी की तरह छाया हुआ है। परिवार को छोड़कर लोग आत्मकेन्द्रित चिंतन और स्वार्थ से अत्यंत प्रभावित हो उठे हैं। दैहिक आकर्षणों ने उन्हें सुविधाएँ तो जुटाई हैं। नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों ने उन्हें सुखी तो किया है किन्तु उनका संतोष छीन लिया है। उनके मानव मूल्य ध्वस्त कर दिये हैं और उनकी पारिवारिक चेतना को आहत किया हैं। विश्व राजनीति में तीन प्रकार के देश आर्थिक आधारों पर रेखांकित किये गये हैं। एक ओर विकसित देश हैं तो दूसरी ओर अविकसित देश हैं। इन दोनों के बीच में विकासशील देश झूलते रहते हैं। महर्षि कार्ल मार्क्स ने उच्चवर्ग, मध्यवर्ग और निम्न वर्ग की जगत प्रसिद्ध अवधारणा स्थापित की थी यह उसी पर आधारित विवेचन है। यहाँ इस टिप्पणी को उद्धृत करने के पीछे मेरा आशय यह है कि वैज्ञानिक आविष्कारों और आर्थिक सम्पन्नता की दौड़ में सबसे आगे चलने वाले परिवार और पारिवारिक चेतना ध्वस्त हो चुकी है। प्रकृति के वरदान से प्राप्त नये-नये मादक पदार्थों, नई-नई अवधारणाओं, मुक्त यौन संबंधों, मर्यादाहीनताओं और कुंठाओं ने विकास का अत्यन्त विकृत सामाजिक पक्ष प्रस्तुत किया है। विकसित देशों की पारिवारिक इकाई के सदस्य परस्पर वर्षों नहीं मिल पाते आज विवाह और प्रातःकाल तलाक के व्यवसायिक रिश्तों ने पारिवारिक संबंधों को पलीता लगाते हुए मनुष्य को क़ाम, क्रोध, लोभ और मोह के मामलों में वही नख-दंत वाला हिंसक और आदिम स्वरूप प्रदान कर दिया है। इसके विपरीत अर्धविकसित और अविकसित राष्ट्रों में आज भी पारिवारिक चेतना

के मूल्यवान पक्ष देखे और पहचाने जा सकते हैं। भारत अपनी जिस सांस्कृतिक मूल्यवत्ता को पोषित कर प्रशंसित और संरक्षित करता है उसका मूलमंत्र यह है कि - यह मेरा है वह दूसरे का है, ऐसा हिसाब क्षुद्र बुद्धि के लोग रखते हैं उदार हृदय वालों के लिए सारी पृथ्वी एक परिवार की तरह है -

इयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैवकुटुम्बकम्।।

इसीलिए भारतीय सामाजिक परम्परा में परिवार परस्पर स्नेह, प्रेम, त्याग और बंधुत्व की आधारशिला है। अच्छे परिवार से आया हुआ सुसंस्कृत व्यक्ति हमें मुग्ध करता है। दूसरी ओर चाहे जितना अशिक्षित परिवार हो लेकिन उसके सदस्यों में पारस्परिक बंधुत्व का जज्बा भी हमें आह्लादित करता है। दया, करुणा, प्रेम और सामाजिक मूल्यवत्ता के जो बड़े-बड़े प्रकाश स्तंभ हमें दिखाई देते हैं वे परिवार की पाठशाला से ही कुंदन बनकर निकलते हैं।

मेरी तो यह स्पष्ट धारणा है कि यदि हम सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में सर्वोच्च स्थानों पर बैठे हुए लोगों का विधिवत् मनोवैज्ञानिक अध्ययन करें तो हमें उनके उत्थान के पीछे पारिवारिक भूमिका से आये हुए उनके उत्तम संस्कारों की जानकारी मिलेगी। इसी तरह समाज में उत्पात् करने वाले तत्वों की तह में उनके पारिवारिक कारण प्राप्त होंगे। इस सिलसिले में हमें उस पुरानी लोककथा का स्मरण आता है, जिसमें मां चोरी करके आये हुए अपने बच्चे की तारीफ करती है और उसे उत्साहित करती है। माँ से शाबाशी पाकर वह बच्चा एक बड़े चोर के रूप में विख्यात हुआ और कालांतर उसे हत्या के आरोपी के रूप में राजा ने मृत्युदण्ड सुना दिया। फाँसी पर चढ़ने के पूर्व कैदी ने अंतिम इच्छा प्रकट करते अपनी मां से मिलना चाहा। राजा ने यह उसकी इच्छा पूरी की माँ के सामने आते ही कैदी ने झपटकर अपने दाँतों से उसकी नाक काट ली। फिर रोते हुए राजा से कहा कि अगर बचपन की उस चोरी पर नाराज होते हुए मां ने उसे दण्डित किया होता तो आज उसे फाँसी पर न चढ़ना पड़ता। हो सकता है यह केवल लोककथा ही, हो सकता है यह कोई सत्य घटना हो किन्तु मैं यह कहना चाहूँगी कि पारिवारिक चेतना का रचनात्मक प्रतिफलन मनुष्य का अनिवार्य भवितव्य है। वह सकारात्मक हो या नकारात्मक। जैसे कुम्हार कच्चे घड़े को मनचाहे ढंग से बना सकता है वैसे ही हम बाल मन को सुसंस्कृत और सुसभ्य बना सकते हैं। किंतु जैसे घड़ा पक जाने के बाद उसे इच्छानुसार संशोधित अथवा परिवर्धित नहीं किया जा सकता वैसे ही वयस्कता प्राप्त बच्चों के संस्कार नहीं बदले जा सकते।

यह नीति कथा हमें पारिवारिक चेतना के रचनात्मक प्रतिफलन का स्मरण दिलाती है जिसमें एक ही माँ-बाप से उत्पन्न तोतों में से एक डाकुओं के संरक्षण में पला दूसरा साधुओं के जो तोता डाकुओं के संरक्षण में पला था वह दूर से ही मनुष्य को आते

देखकर चिल्लाने लगता था। दौड़ो, पकड़ो, माल लूट लो, बचकर न जाने पाये। दूसरी ओर साधुओं के पास पला तोता आगंतुकों को देखकर आइये, बैठिये, कृपया जल पियें कहकर प्रसन्न कर देता था। परिवार उससे जुड़ी हुई हमारी चेतना जिस मूल्यवत्ता की रक्षा का सतत् प्रयास करती है। उसको सुपरिभाषित करने की दृष्टि से हम ऐसी कथाएँ, उपकथाएँ एक सकारात्मक सोच के साथ लगभग सारी दुनिया के साहित्य में प्राप्त कर सकते हैं।

मालती जोशी के कथा साहित्य में इस पारिवारिक चेतना को बखूबी पहचाना जा सकता है। यह चेतना उसके उपन्यासों और उनकी कहानियों का आधार ही है और यह मेरा व्यक्तिगत विचार है कि जब तक हम पारिवारिक चेतना का विश्लेषणात्मक अध्ययन नहीं करते तब तक हम किसी भी रचना के साथ न्याय नहीं कर सकते।

प्रेमचंद की कहानियों एवं उपन्यासों में इस पारिवारिक चेतना के सर्वाधिक प्रमाण मिलते हैं। 'नमक का दरोगा' और 'बड़े घर की बेटी' जैसी कहानियाँ प्रेमचंद के श्रेष्ठ पारिवारिक चेतनायुक्त लेखन को रेखांकित करती हैं।

'गोदान' प्रेमचंद का सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यास है। गोदान में भारतीय ग्रामीण परिवेश का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। इसका नायक होरी अवध के एक गाँव का किसान है, किन्तु वह वास्तव में भारतीय किसान के जीवन का प्रतीक है। होरी धर्मधीरू किसान है, ईश्वर की न्यायप्रियता और दयालुता में उसका पूर्ण विश्वास है अपनी इसी धर्मधीरू प्रकृति के कारण वह अन्याय और हर अपमान को चुपचाप सह लेता है, किन्तु उसका पुत्र गोबर अन्याय के विरूद्ध लड़ना चाहता है। दातादीन पर व्यंग्य करते हुए वह एक स्थान पर कहता है महाराज, जिस जजमान के घर में जाकर खड़े हो जाओगे, कुछ न कुछ मार ही लाओगे। जनम में लो, मरने में लो, शादी में लो, गमी में लो, खेती करते हो, लेनदेन करते हो, दलाली करते हो, किसी से कुछ भूल-चूक हो जाए तो डांड़ लगाकर उसका घर लूटते हो, इतनी कमाई से पेट नहीं भरता।"[1]

जमींदारों, कारंदो, मुख्तियारों और ब्राह्मणों ने गरीब किसानों और मजदूर के चारों ओर ऐसा जाल बिछा रखा है। जिसमें से निकल सकना उनके लिए संभव नहीं है। प्रेमचंद ने दिखाया है कि धर्म के ठेकेदार ब्राह्मण, महाजन ओर जमींदार तीन होते हुए भी कर्मविधान के तहत एक है ओर सामन्ती शोषण के तीन रूप है। किसानों को अपने शोषण की ठीक जानकारी भी नहीं है, अतः उनमें आपस में संगठन व एकता नहीं है। एकता न होने के कारण ही उनका मनमाना शोषण होता है और वे मौन रहकर सब कुछ सहने को बाध्य है। वह तो इतना भोला है कि अपने शोषक को ही अपना उद्धारक और मुक्तिदाता समझ बैठा है। हर ओर से सताया जाकर भी गोदान का नायक होरी यह नहीं समझ पाता कि उसकी बर्बादी के लिए जिम्मेदार कौन है। अपनी बर्बादी के लिए भाग्य को दोषी मानकर संतोष कर लेता है। होरी अपने आत्मसम्मान की रक्षा अपना सब कुछ गँवाकर भी नहीं कर पाता। जीते जी वह अपने संस्कारों को नहीं बदल पाता- "बेटा जब तक जीता हूँ - मुझे अपने रास्ते पर चलने दो और जब मैं मर जाऊँ तो तुम्हारी जो इच्छा

हो वह करना।" प्रेमचंद ने यही कहने की कोशिश बार-बार की है कि जब तक किसान अपने शत्रु को पहचानकर, संगठित होकर उसके विरूद्ध संघर्ष नहीं करता, तब तक वह बार-बार शोषित होता रहेगा।

'गोदान' प्रेमचंद की पहली कृति है जिसमें प्रेमचंद आदर्श का सहारा छोड़कर पहली बार यथार्थ के धरातल पर दिखते हैं। डॉ. इन्द्रनाथ मदान लिखते हैं कि - "यह चिंतन किसी उपन्यास के अंर्तबोध को लेकर है तो कभी संबोधन की बाग्मिता की समस्या लेकर है, तो कभी अमानवीकरण की समस्या को लेकर है तो कभी अनुभूति के नये विपिन को लेकर, यह उपन्यास केवल होरी का गोदान नहीं है, प्रेमचंद की आस्था का भी 'गोदान' है।"[2]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना मनुष्य का जीवन संभव नहीं है। समाज में रहकर मनुष्य अपने आप को सुरक्षित महसूस करता है। समाज में रहकर मनुष्य कई प्रकार की शिक्षा ग्रहण करता है। "समाज से हमारा तात्पर्य है सामाजिक संबंधों एवं समूहों का तानाबाना जो देश और काल के संदर्भ में व्यक्ति और समूह के बीच तीन स्तरों पर अन्तः क्रिया द्वारा निर्मित होता है। ये तीन स्तर हैं- व्यक्ति-व्यक्ति के बीच और व्यक्ति समूह के और समूह-समूह के बीच और इस अंतः क्रिया के दो आयाम होते है - एक उक्त दोनों स्तरों पर संवाद की क्रिया चलती रहती है अर्थात् भावों विचारों अनुभावों का प्रेषण-संप्रेषण होता है। दूसरा, आयाम है - व्यक्ति-समूह के बीच विभिन्न क्रियाएँ सहयोग या संघर्ष की प्रक्रियाओं द्वारा संपन्न होती है और समाज के स्वीकृत मूल्य प्रतिमान और उन पर आधारित संरचना द्वारा व्यक्ति या समूह के माध्यम से परिचालित होती है।"[3]

प्रेमचंद जी के युग में नारी जीवन पर जितना विचार किया गया, नारी जागरण के जितने प्रयास किये गये उसने शायद ही किसी दूसरे युग में किये गये हो और नारियों ने भी उन्नति पथ पर चलते समय इस काल में ऐसी छलाँग मारी कि जन समूह देखता ही रह गया। "प्रेमचंद युग में सबसे अधिक उपन्यास नारी समस्या को आधार बनाकर लिखे गये और यह स्वाभाविक भी था यह युग वास्तव में मुक्ति आंदोलन का युग था और भारतीय समाज में सबसे अधिक पीड़ित व प्रताड़ित एवं बंधनग्रस्त थी नारी।"[4]

सामाजिक परिस्थितियों के कारण या आर्थिक अभाव से (दहेज न दे सकने के कारण) अनमेल ब्याह आये दिन हुआ करते थे और ये ब्याह इतनी संख्या में हो जाते कि समाज सोचता तक न था कि उससे कुछ बिगड़ सकता है। इतनी सहजता से यह ब्याह हो जाते थे। पति की आयु की गिनती करना समाज भूल गया था तो उल्टे लड़की की बढ़ती उम्र का हिसाब एक दिन से भी पहाड़ हो जाता। मृत्यु का बुलावा आने तक (कितना भी वयोवृद्ध क्यों न हो) पुरूष को विवाह की इजाजत थी। कानून में अब यह प्रथा बंद कर दी गई है। इन नारियों को सम्मान पूर्वक अपना जीवन जीने की सुविधा भी प्राप्त हुई है।

"स्त्रियों के उत्तराधिकार के संबंध में भी नये कानून बन गये हैं। पिता की संपत्ति की वह आज पुत्र जैसी समान रूप से उत्तराधिकारी बन सकती है। इस दृष्टि से देखा जाए तो संविधान में कानून से भारतीय महिलाओं को पुरूष के समकक्ष ला खड़ा किया है। इस भारतीय समाज के एक बड़े भाग को आत्म विकास का स्वतंत्र क्षेत्र सुलभ हो सका है।"[5]

परिवार में बड़े लोग हमेशा छोटों को अच्छा करने की सीख देते हैं उनका वचन निभाने में कई परेशानियों का सामना करना पड़ता है। इसका सजीव चित्र भगवती चरण वर्मा ने अपने उपन्यास 'भूले बिसरे चित्र' में खींचा है - "कुल एक ही हफ्ता तो मैं कहाँ रही हूँ दादा बतलाऊँ। तो क्या बतलाऊँ। लेकिन एक बात तो अवश्य है, मैं अपने ससुराल वालों से घृणा करने लगी हूँ। जिन लोगों ने मेरे घर को तबाह करके रख दिया है उनके प्रति मुझमें प्रेम कैसे हो सकता है। उसका खानदान का प्रत्येक आदमी मुझे पिशाच की तरह नजर आता है। लाख प्रयत्न करती हूँ कि अपने अंदर की यह भावना निकाल डालूँ लेकिन में सफल नहीं हो पाती। एक भयानक घृणा भर रही है। उस खानदान के प्रति मेरे अन्दर। विद्या की बात सुनकर नवल सहम उठा, "विद्या जीवन समझौता है। इस तरह की भावना अपने मन से निकाल दो। मुझे वचन दो कि तुम आवेश में आकर कोई भी बात अनुचित न कहोगी। "दादा तुम्हें मुझसे कभी शिकायत न होगी। मैं तुम्हें वचन देती हूँ। मैं समझती हूँ कि जिंदगी एक समझौता है। लेकिन हर समझौते में दो पक्ष होते हैं। जहाँ तक मेरा पक्ष है, मैं मान और मर्यादा पर कायम रहूँगी। यह कहकर विद्या घर के अन्दर चली गयी।"[6]

गबन की कथा भी पारिवारिक चेतना पर प्रकाश डालती है। 'गबन' की कथा का बीज गहनों की असार्थकता और आभूषण प्रिय होने की कहानी है। इसे गहने की ट्रेजिडी भी कहा गया है। कथावस्तु मध्य वित्त घराने से संबंध रखती है। क्योंकि आभूषणप्रियता और बाह्याडंबर इसी वर्ग में सीमा को पहुँच गया है।[7] जालपा और रमानाथ की शादी हुई सब गहने चढ़े परन्तु एक चंद्रहार नहीं चढ़ा। उधर जालपा के मन में संस्कार रूप से चंद्रहार की चाह थी। उसके पति रमानाथ ने उसके मोह में आकर म्युनिसपिल आफिस में 30 रूपये की नौकरी चुंगी उगाने की कर ली। जगह आमदनी की थी। उन्होंने गहने खरीदे। धीरे-धीरे वह सिर से पैर तक कर्ज में डूब गये। जालपा की सखी रतन के कंगन बनाने के लिए दिये हुए रूपये रमा ने सुनार को दिये तो उसने ये रूपये पिछले उधार में काट लिए। रतन के तकाजे पर उन्होंने दफ्तर के रूपये लाकर उसे दिए। उसे दे दिये। वह गबन हुआ। परन्तु जब दूसरे दिन रूपये का प्रबंध न हो सका तो वे अपने नगर प्रयाग को छोड़कर कलकत्ते भागे।

इधर इस विपत्ति ने जालपा में प्रतिक्रिया उपस्थित की। उसने कंगन आदि बेचकर गबन का ताबान भर दिया, कर्ज चुका दिया अब उनका त्याग आरंभ हुआ जब उसे रमा के कलकत्ते होने का पता लगा तो रमा का इतना पतन हो चुका था कि वह

माफी के विचार से सरकारी गवाह बन गया था। जालपा ने तिरस्कार किया अंत में इस पतन के क्षोभ में दुखी होकर रमानाथ ने जज से साफ-साफ कह दिया कि गवाही झूठी हैं। अभियुक्त बरी हो गये। वह भी छूटा। रमा-जालपा का मिलन हुआ।

यदि कथा का विश्लेषण करेगे तो हमें पता लगेगा कि कथा के पहले 20 अध्यायों का केन्द्र प्रयाग है, शेष कथा कलकत्ते से संबंधित है। इस प्रकार कथा सूत्र के स्थान, भेद दो टुकड़े हो जाते है परन्तु दोनों टुकड़ों में रमा की कथा ही प्रमुख है, अतः उसके पतन की कथा उपन्यास की एकसूत्रता बनाये रखती है। यदि पात्रों की ओर दृष्टि करे तो उसमें दो कथाएँ स्पष्ट हैं - 1. रतन की कथा 2. जोहरा की कथा। परन्तु सूक्ष्म अध्ययन से पता चलेगा कि कथा की धारा एक ही है। जोहरा की कथा प्रासंगिक रूप से आती है, परन्तु वह प्रेमचंद के अन्य उपन्यसों की तरह न प्राधान्य ग्रहण करती है न कथा सूत्र से बिल्कुल ही अलग रहती है। उन दोनों कथाओं के पीछे दो उद्देश्य काम कर रहे हैं। 1. प्रेमचंद रतन के चरित्र में भारतीय वैभव्य का ऊँचा चित्र उपस्थित करना चाहते है। 2. जोहरा के चरित्र में वेश्या का हृदय परिवर्तन दिखाना चाहते हैं। जो उनका प्रिय विषय है। इन दो अस्वाभाविक आदर्श सूत्रों को छोड़कर शेष रचना की मिति यथार्थवाद पर टिकी है।

जहाँ बंधन ही सामाजिक श्रेष्ठता का मान हो गया हो, वहाँ प्रत्येक पति की आकांक्षा यही होगी कि उसकी पत्नी के अंग पर सब पुरूषों की पत्नियों से अधिक गहने हो। और जहाँ स्त्री केवल उपभोग की वस्तु है और केवल देह उसकी उपजीव्य, जहाँ सौन्दर्य को बढ़ाने वाले उपकरण के रूप में उसे गहने विशेष प्रिय हो तो कोई आश्चर्य नहीं। सच तो यह है कि हिन्दू समाज में नारी की हीनता का सबसे बड़ा प्रमाण हिन्दू स्त्री की अलंकार प्रियता है। इस प्रकार मूल रूप में गबन की कथा भारतीय नारी की पारिवारिक और सामाजिक विडंबना की कहानी कही जायेगी।

"आज का मध्यावित्त पुरूष स्त्री की इस स्वाभाविक आकांक्षा की पूर्ति को अपना धर्म समझे तो उसे दोष देना होगा। इसी तरह वह अपनी पत्नी का हृदय जीत सकेगा साथ ही अपनी पत्नी के अंगों पर बहुमूल्य अलंकारों का प्रदर्शन करके यह अपनी वर्ग श्रेष्ठता भी प्रमाणित कर सकेगा। रमानाथ और जालपा की सारी भाग्य विडम्बना नारी की इसी सामाजिक हीनता पर आधारित है। वर्गमुक्त समाज में न पत्नी के अंगों पर संसार भर के गहने लादने की चाह पुरूष को होगी न स्त्री के लिए देह ही उसकी आजीविका होगी। वहाँ श्रम मात्र ही स्त्री-पुरूष के लिए समान उपजीव्य होगा। ऐसे वर्गमुक्त समाज में रमानाथ और जालपा जैसे पुरूष नारी को स्थान नहीं मिल सकेगा। परन्तु गबन में देहजीवी नारी और वर्गवद्ध पुरूष की कहानी ही नहीं है। सच तो यह है कि वह मध्यवित्त समाज के ऊपर एक अत्यंत शक्तिशाली व्यंग्य है। इस समाज के सच, झूठ के मान, उसकी दिखावे की भावना उसकी न्यायभावना का खोखलापन उसके प्रेम और ईश्वर विश्वास की खिल्ली जैसी इस उपन्यास से मिलेगी वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।"[8]

"सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित हो। तत्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले ही हो जाए मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों से उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए मन में सुन्दर भावों को जाग्रह करने के लिए कुछ न कुछ अवश्य चाहते हैं।"[9]

"व्यवहारिक जीवन-मूल्यों में परिवार का बड़ा महत्व है। परिवार व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि के विकास की कल्पना पर आधारित है वस्तुतः परिवार के बिना मानव विकास संभव नहीं। इसीलिए तो सृष्टा को भी एकाकीपन अच्छा नहीं लगा और उसने पारिवारिक रूप से रहने की इच्छा से -"एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय" - मैं अकेला हूँ बहुत से उत्पन्न करने का विचार किया। इस प्रकार प्राणियों के विकास के लिए साथ-साथ रहने की प्रवृत्ति सर्वथा आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है ओर नैसर्गिक भी। ऐसी प्रवृत्ति पशु-पक्षियों एवं अन्य जीवधारियों में भी पायी जाती है। उनसे भी परिवार की भावना एवं कल्पना विद्यमान है। वे अपनी संतति के लिए घर बनाते हैं, भोजन जुटाते हैं और उनका संरक्षण कर जीवन संघर्ष करने के लिए उन्हें समर्थ बनाते हैं। दीमक, चीटी आदि में भी यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है। फिर मानव तो सभी प्राणियों में श्रेष्ठ और अधिक बुद्धि सम्पन्न विवेकवान प्राणी है। उसमें यह प्रवृत्ति अपने समस्त गुणों के साथ और अधिक विकसित रूप में प्रस्फुटित हुई है। उनका सदैव इस बात का प्रयास रहा है कि वे मानवीय गुणों का सही-सही विकास और उपयोग दूसरे को दृष्टि में रखकर करें। इसीलिए परिवार को द्वेष की गंध से दूर परस्पर एक्य, सौहार्द और सद्भावना से समन्वित रूप देने का प्रयास हमारे मनीषियों का रहा है।"[10]

भारत में परिवार का गठन ऐसे ही उन्नत आधारों पर किया गया था। एक दूसरे के प्रति सहयोग की भावना न केवल मानव को बल्कि समस्त सृष्टि को एक सूत्र में बांधती है। बिखराव में एकात्मकता ही परिवार का परम साध्य है। परिवार का गठन मानव के साथ-साथ रहने की प्रवृत्ति का परिचायक है। जहाँ वह मिलकर चलना, एकमत होकर बातचीत करना, मिलकर समझना, एक होकर कर्तव्य पालन में, एकमत होने की प्रक्रिया में समन्वित होता है। एकता की इस सूत्र में भय की स्थिति टूटने का भावना तथा विश्रृंखलता का अवतरण नहीं होता और न ही ऐसी स्थितियों का भार एक ही व्यक्ति पर पड़ता है। बल्कि वह समभाव से वितरित हार और जीत में सबकी भागीदारी मानता है।

"जीने के लिए कोई न कोई अर्थ होता है। बिना अर्थ के कोई जीता नहीं। अन्यथा आत्महत्या के अनन्त दरवाजे खुले हैं। रचनाकार के लिए रचना ही जीने का अर्थ है। उसी से अपने को सार्थक महसूस करता है। सृजन का क्षण कुछ जन्म देने, कुछ पैदा करने का क्षण होता है। उस क्षण में रचनाकार का समूचा अस्तित्व एकाग्र और सचेत होता है। न्यायिक महिम भट्ट ने कहा है लेखक जब अपनी प्रमुख सर्जनात्मक मनः स्थिति के अनुकूल शब्द और अर्थ की चिंता करता हुआ ध्यानावस्थित होता है तो सहसा उसमें

एक ऐसी अन्र्तदृष्टि का आविर्भाव होता है। जो वस्तुओं के सार रूप को छू लेता है। इसी को महिम भट्ट ने प्रतिभा कहा है उस क्षण से चीजें जितनी साफ और सच्ची दीखती है, उतनी सामान्य क्षणों में नहीं। सचमुच वह इस क्षण का सृष्टा होता है क्योंकि वह स्वतंत्र और मुक्त होता है। यह स्वातंत्र्य और मुक्ति रचनाकार की तात्विक विशेषताएँ है। स्वतंत्र और मुक्त होकर ही वह लिखता है और चीजों को अर्थ देता है अर्थ की तलाश करता है।"[11]

सृजन प्रक्रिया एक जटिल और संश्लिष्ट प्रक्रिया है जिसमें चेतन और अवचेतन दोनों का योग होता है। दोनों का परस्पर सहयोग रचना को अर्थ और मूल्य देता है। हर रचनाकार की मनोभूमि एक नहीं होती है। अतः अर्थ की खोज हर रचनाकार अपने-अपने ढंग से करता है। क्योंकि मनुष्य की शक्तियां सीमित है। इसलिए उसका अनुभव और ज्ञान भी सीमित है वह जिस मस्तिष्क से अनुभव और ज्ञान प्राप्त करता है। संस्कार और वातावरण की सीमाओं से उसके अनुकूल या प्रतिकूल ही होता है। संस्कार और वातावरण से मनुष्य को शक्ति और विस्तार पाता है, उसके अंतर्गत वह सोचने के लिए विवश है। स्वाभाविक है कि मस्तिष्क के सीमित और अपूर्ण होने के कारण ही उसके द्वारा प्राप्त ज्ञान और अनुभव भी सीमित तथा अपूर्ण होता है। किसी रचनाकार का यह समझना कि वह किसी शाश्वत् सत्य की उपलब्धि कर चुका है या किसी आलोचक का यह समझना कि वह कोई शाश्वत निर्णय दे रहा है। एक बहुत बड़े भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। रचना का क्षेत्र दर्शन या विज्ञान का क्षेत्र नहीं है। उसमें विज्ञान या गणित के फार्मूले की सच्चाई नहीं होती न दर्शन की तार्किक सच्चाई। रचनाकार इस तथ्य को जानता है, नहीं तो वह एक ही रचना लिखकर चुप बैठ जाता । वह बार-बार लिखता है। इसीलिए उसे कुछ अधूरा छूट रहा है। जिसे भाषा देना जरूरी है। हर रचना में कई बार (और कभी-कभी तो प्रकाशन के बाद भी) उसे शब्दों को इधर-उधर करना पढ़ता है। उसे इतना और उपयुक्त शब्दों को रखना पड़ता है।

"रचनाकार अपनी रचना से उतना ही प्रेम करता है और उससे उतना ही बंधा होता है, जितना अपनी संतान से। रचना भी उसकी संतान ही है। पुत्र के मन में माता-पिता के प्रति चाहे लगाव न हो पर माता-पिता के मन में पुत्र के प्रति सहज स्वाभाविकता, लगाव होगा ही क्योंकि वह उनका सृजन है। रचना के प्रति भी रचनाकार के मन में ऐसा लगाव होता है। रचना एक कठिन कर्म है, बहुत ही कठिन। रातों को नींद नहीं आती। कह सकता हूँ कि रचना एक युद्ध है, एक पीड़ा, सृजन की एक पीड़ा, बच्चे को जन्म देती हुई माँ जिस पीड़ा को अनुभव करती है, उसी पीड़ा का अनुभव रचना को जन्म देता हुआ रचनाकार करता है। यशपाल की कहानी "चित्र का शीर्षक" का नायक जयराज अपने मित्र की पत्नी नीता को उसकी विरूप आकृति और रोग से शिथिल शरीर को देखकर इतना आतंकित होता है कि छुटकारा पाने के लिए निकल भागता है। वह कश्मीर की बर्फानी चोटियों, फूलों से नीली डल झील के समीप पहुँचता है। पुरी और केरल में समुद्र तट पर चांदनी रात से ज्वार-भाटे का दृश्य देखता है। नगरों की भीड़ में खो जाना

चाहता है। पर नीतू की वह विरूप आकृति उसका पीछा नहीं छोड़ती। फिर इस अत्याचार का बदला लेने के लिए जयराज रंग और कुची लेकर केनवास के सामने जा खड़ा होता है। वह एक चित्र बनाता है पलंग पर लेटी हुई नीता का। उसका पेटा फूला हुआ है, चेहरे पर रोग का पीलापन, पीड़ा से फैली हुई आँखें, कराह में खुलकर मुड़े हुए होंठ हाथ-पाँव ऐंठे हुए से। ..... इस चित्र का शीर्षक है 'सृजन पीड़ा'। यह चित्र ही जयराज को उसकी पीड़ा से, बेचैनी से मुक्त करता है। नहीं है पूर्व की बैचेनी और रचना के बाद की मुक्ति''[12]

रचना की प्रकृति के अनुसार उसका विश्लेषण होना चाहिए। लिखना एक जटिल प्रक्रिया है। उससे बहुत सी चीजें घुल-मिल जाती हैं। कोई भी रचना निरूद्‌देश्य नहीं होती उसका एक अपना अर्थ और मूल्य होता है। रचना रचनाकार की भट्टी से पिघलकर निकलती है इसलिए उमें अनुभूति की चमक होती है और इसीलिए वह नई भी होती है। रचना से न केवल हम अपने को देखते पहचानते है वरन् उससे पुनः रचना की प्रेरणा भी लेते हैं। जो रचना पुनः रचना की प्रेरणा नहीं देती उसकी रचनात्मकता अधूरी रह जाती है। साहित्य हमें जिंदगी में शरीक करता है उसे जीने और भोगने की प्रेरणा देता है। हमें जगाता है, झकझोरता है, तैयार करता है कि हम उस जमीन पर खड़े हो सके जहाँ कई बार ढह चुके हैं मुझे वह साहित्य बड़ा ठंडा और अधूरा लगता है जो पाठक का मनोरंजन करके रह जाता है। रचना में कुछ ऐसा अवश्य होना चाहिए जो पाठक को बेचैन करे, उसमें एक दर्द भरे। नहीं तो रचना की सबसे बड़ी सार्थकता और सर्जनात्मकता है कि वह पुनः रचना की प्रेरणा दे, हमें कल की लड़ाई के लिए तैयार करे। रचना का समाज पर असर जरूर होता है पर उससे कोई तात्कालिक परिवर्तन कभी-कभी ही हो पाता है। उसका असर निश्चय ही बड़ा गहरा होता है पर सीधे नहीं धीरे-धीरे होता है।

''रचना एक सक्रिय कर्म है, यह मान लेने के बाद भी तो यह जानना शेष रह जाता है कि वह किस प्रकार का कर्म है। हत्या करना भी एक कर्म है और हत्यारे से जूझना भी। दोनों में फर्क है। इसी तरह रचना और रचना में फर्क होता है। तभी तो रचनाकार के सामाजिक दायित्व वया जनसंघर्ष में उसकी सक्रिय भूमिका के बारे में चर्चाऐं की जाती है। आप पूछ सकते हैं कि यह सवाल लेखक के साथ ही क्यों उठाया जाता है। वैसे तो कर्म करने वाले बहुत से हैं - किसान हैं, मजदूर हैं। उनके सामाजिक दायित्व की बात क्यों नहीं की जाती? क्यों बड़े-बड़े राजनेता अपने भाषणों में दोषारोपण करते हैं कि बुद्धिजीवी अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर रहे हैं? शासन इसीलिए कि साहित्यकाल ऐसी स्थिति में होता है कि जिसमें आम आदमी या कहे कि शारीरिक श्रम करने वाला आदमी नहीं होता। साहित्यकार क्यों लिखता है उसका एक सामाजिक दर्जा होता है। वह चाहे तो अपने लेखन का दुरूपयोग कर सकता है और इस प्रकार एक बड़े या छोटे पाठक वर्ग को उसे प्रभावित कर सकता है। संभवतः इसीलिए उसके दायित्व का सवाल बार-बार उठाया जाता है पर यह मानना कि लेखक का कोई दायित्व नहीं होता तर्क संगत नहीं है। क्या कोइ भी व्यक्ति कह सकता है कि यह दायित्व से मुक्त है कि वह इस दुनिया

के बाहर होकर ही ऐसा कह सकता है और उसके लिए ऐसा संयोग मरने के बाद ही घटित हो सकता है। यह किसी का पैदा किया हुआ अन्न खाता है किसी का तैयार किया हुआ कपड़ा पहनता है, बीमार होने पर किसी की दवा करता है और करने के बाद भी आशा करता है कि कोई उसका अंतिम संस्कार करेगा, भले ही विद्युत शवदाह गृह में करे। यदि उसका किसी के प्रति कोई दायित्व नहीं तो खुद किसी में आशा क्यों करता है? दरअसल दायित्वहीन आदमी की कल्पना ही असंभव है- फिर साहित्यकार तो एक विवेक सम्पन्न जागरूक प्राणी है।''[13]

मेरा यह कहना है कि जीवन के हम जो भी कर्म करते हैं उन सभी का फल हमें नहीं मिलता, फिर भी उन्हें करते हैं हम जानते हैं कि मृत्यु को हम जीत नहीं सकते हम जानते हैं कि जीवित रहना एक कठिन संघर्ष है, हम जानते हैं कि बहुत से सवाल हमारे समाधान से परे हैं फिर भी हम जीते हैं, भोगते है और प्रश्नों के समाधान ढूँढने की कोशिश करते है। हमारी सार्थकता हमारे संघर्ष में ही है। साहित्य की सार्थकता भी उसी में है। साहित्य के द्वारा दुनिया बदल जायेगी यह भ्रम साहित्यकार में न हो तब भी वह लिखेगा क्योंकि साहित्य उसे अपने आपको और दुनिया को समझने के लिए जरूरी लगाता है। सार्व कहता है कि ''एक लम्बे समय तक मैंने अपनी कलम को तलवार समझा। अब मैं महसूस करता हूँ कि हम कितने असहाय हैं। उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मैं लिख रहा हूँ, मैं पुस्तकें लिखूँगा, उनकी जरूरत है, उनका फिर भी उपयोग है, साहित्य मनुष्य की रचना है वह इसके जरिये स्वयं को प्रक्षेपित करता है और इसमें अपने आपको पहचानता है, मात्र वह आलोचनात्मक दर्पण उसे अपना रूप दिखाता है।''[14] 50 वर्षों बाद साहित्य का महत्व खत्म हो जायेगा क्योंकि फिल्म और टेलीविजन का माध्यम खत्म हो जावेगा। किताब का मतलब कागज का पन्ना नहीं है। वह एक इतिहास है, एक आंदोलन है, समाज उत्थान और पतन है लिखित शब्दों के सहारे ही इस अनुभवों की दुनिया में थोड़ी देर रूककर सोचने को विवश होते हैं।

परिवार में एकता के लिए प्यार, स्नेह और सौहार्द की भावना होती है। एक दूसरें के हिताहित की चिंता होती है। इसके लिए एकता संभव नहीं। अतः मिलकर चलना, एक मत होकर बातचीत करना, मिलकर किसी विषय को समझना ओर एक दूसरे के काम आना एकता के आवश्यक सूत्र हैं।

पारिवारिक गठन में बड़ों की आज्ञाकारिता अपना विशेष महत्व रखती है। बड़ों के अनुभव उसके ज्ञान और आदर्श बच्चों के जीवन की प्राथमिक आधारशिला होती है। अतः उसके कथन का मूल्य परिवार में आँका जाए यह अति आवश्यक है। परिवार में माता-पिता, दादा-दादी आदि सबके रहने और उनकी आज्ञा के पालन की और संकेत करते हुए कठोपनिषद् का कथन है -

''उत्तिष्ठ, जाग्रतः प्राप्य, वरान् निबोधत।''

- कठोपनिषद् 3/14

(उठो जागो तथा जो श्रेष्ठ है उनके पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो।)

"जीवन में कर्तव्याकर्तव्य, धर्माधर्म, आस्ति-नास्ति के अनेक ऐसे प्रश्न उभरते हैं जो अनिश्चितता को जन्म देते हैं, भ्रान्तियों को उत्पन्न करते हैं और संदेहों को उठाते हैं। ऐसी स्थितियों में विद्वान भी उचित हल नहीं खोज पाते। किन्तु गृहस्थ व्यक्ति जो परिवार के बीच रहता है बड़ी ही सहजता और गहराई से लोक व्यवहार की मर्यादा स्थापित करता है तथा उलझनों से निकलने का मार्ग खोजता है। इस प्रकार परिवार का महत्व बहुत अधिक है। जिसमें रहकर विचारवान व्यक्ति आत्म परीक्षण का अवसर प्राप्त करता है। इस प्रकार की प्रत्येक परीक्षा उसे कुछ न कुछ ऊपर उठा देती है। आर्य परिवार का गठन उच्च स्तर का है। गृहपति को तलवार की धार पर चलना पड़ता है। कार्य का धुरा सिर पर उठाकर आगे बढ़ते जाये, सबको साथ लेकर बिना किसी को अलग किये, यह कार्य परिवार के प्रधान का सबसे गंभीर माना जाता है। परिवार को उपद्रवों से बचा-बचाकर रखना, राजनीति जैसी चंचल वस्तु को परिवार के भीतर प्रविष्ठ न होने देना- जैसा महाभारत से पता चलता है, एक कुशल गृहस्थ ही समर्थता से कर पाता है। वे योग मुक्त भावना से परिवार के संरक्षण, संवर्धन, प्रतिपालन और विकास करने से प्रवृत्त रहते थे तथा विघटनकारी दुष्ट तत्वों को उभारने नहीं देते थे। उनका प्रयास होता था कि पारिवारिक गठन से कहीं दरार न पड़ने पाये जिससे होकर बुरे तत्वों का प्रवेश भीतर हो। उनके परिवार विचारों के स्तर पर इस प्रकार गठित किये गये थे जिससे अनेकता के भीतर भी ठोस एकत्व की स्थापना हो सकी थी। माता, पिता, पितामह, प्रपितामह, पत्नी भाई बहिन एवं आश्रित यहाँ तक कि परिवार के गऊ, कुत्ते और अन्य पशु-पक्षी भी भीतर से एक ही अदृश्य सूत्र में बँधे हुए थे। गृहपति के आचार, विचार एवं व्यवहार आदि का प्रभाव इस बंधन में परिवार के सभी सदस्यों के चिंतन और विचार पर अज्ञात एवं ज्ञात रूप में अवश्य पड़ता था। आज भी घर के मुखिया का प्रभाव उसकी संतति पर थोड़े बहुत रूप से अवश्य पड़ता था। इसलिए उसे श्रेठत्व धारण करना परम आवश्यक है।"[15]

भारत वर्ष में परिवार में जो भी गृहपति है उसके विचारों पर ही आश्रितों के विचारों का शिलान्यास होना चाहिए। तभी परिवार का अर्थ पूर्ण हो सकेगा। व्यक्ति से परिवार का अर्थ पूर्ण हो सकेगा। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र का निर्माण होता है। यही कारण है कि जब हम परिवार और समाज का विवेचन करने बैठते हैं तो व्यक्ति परिवार और समाज में एक गहरी एकात्मता पाते हैं। प्रत्येक मनुष्य को कुछ नैसर्गिक आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति मानव एकाकी रहकर नहीं कर सकता।

सहयोग मूलक भावनाओं का यहीं से आरंभ होता है। सभी से एक दूसरे के प्रति सहयोग और सौहार्द की भावना हो। पति-पत्नी से मधुर व्यवहार हो। वे एक दूसरे की हिताहित की चिंता करें तथा स्नेह दें। आज्ञापालन, ऐक्य ओर सद्भावना जैसे गुणों का विकास हो, उदारता का वरण हो, एक साथ मिलकर कर्तव्य एवं कर्मों को पूरा करें, मतैक्य बना रहे, परिचित, अपरिचित सबके लिए हृदय से स्नेह हो, सत्कार भावना का प्रसार हो तथा एक परिवार दूसरे परिवार का पूरक बना रहे।

भारत में परिवार संयुक्त परिवार प्रणाली का आदर्श उदाहरण है, वहाँ पिता-माता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन, सास-बहू, पति-पत्नी, ननद और भाभी सभी खुश होकर एक ही घर में रहते हैं, परिवार की व्यवस्था का भार परिवार के सबसे बड़े पुरूष सदस्य पर होता है। इसे गृहपति या कर्ता कहा जाता है। संयुक्त परिवार की संरचना में कर्ता सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है। इसकी स्थिति सर्वोच्च होती है तथा अधिकार असीम। वह ही संपूर्ण पारिवारिक चक्र का संचालन करता है तथा समस्त संपत्ति का व्यवस्थापक होता है। वह परिवार की धुरी है और शेष सभी सदस्य उसके आश्रित।

संयुक्त परिवार में कर्ता के स्थान के बाद में उसकी पत्नी का स्थान होता है। इसका कारण कर्त्ता और उसके बीच भौतिक तथा मानसिक संबंध है। वह स्त्रियों के लिए कर्ता के समान ही आदरणीय होती है। पिता के बाद पुरूष सदस्यों में बड़े पुत्र को ही संयुक्त परिवार की संरचना में सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। इसलिए पितृसत्तात्मक परिवारों में साधारणतया लड़कियों की अपेक्षा लड़कों की स्थिति अच्छी होती है। तथा उच्च भी। लड़के को इस प्रकार अप्रत्यक्ष स्थान देने का कारण एक तो श्राद्ध, संस्कार आदि से संबंधित अधिकार उसे प्राप्त होता है। दूसरे कर्त्ता की मृत्यु के पश्चात् उसे ही कर्ता का पद प्राप्त होता है कभी-कभी जो वह वृद्ध पिता की उपस्थिति में ही कर्ता बना दिया जाता हे।

कन्या संयुक्त परिवार में भी पराये घर के धन में देखी जाती है। अतः उसके लिए योग्य वर की खोज तथा दहेज की समस्या माता-पिता के लिए गहन चिंता का विषय बन जाती है। किसी प्रकार विवाह हो जाता है जो भी माता-पिता को चैन नहीं। लड़कों की छोटी से छोटी गलती में भी संपूर्ण कुल को उसका उत्तरदायी और कलंक का भागीदार बनना पड़ता है। किन्तु भारत में सुलक्षणा पुत्री को पुत्र से भी अधिक स्थान दिया गया है।

वधु की स्थिति संयुक्त परिवार से अत्यन्त विषम होती है। आरंभ में तो वह जब पिता का घर छोड़कर पति के घर में प्रवेश करती है, बड़े आनंद मनाये जाते हैं। उसकी प्रशंसादि की चर्चा महीनों तक चलती है। किन्तु बाद में परिवार के सभी सदस्य उससे भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्तव्यों को पूर्ण करने की इच्छा रखते हैं। उसके अधिकारों और सुख सुविधाओं का विचार किसी के मन में नहीं आता। पति की ओर से भी निराश होना पड़ता है। क्योंकि समाज में पत्नी के पक्षधर पति को "जोरू के गुलाम" की संज्ञा दी जाती है। लोग इसकी निन्दा करते है। इस प्रकार भारत वर्ष में परिवार के गठन से परिवार के मुखिया का ही आदेश मान्य होता है। जिसे सदस्य सिर आँखों पर रखकर पालन करते हैं।

पिता के घर में और ससुराल में लड़कियों को दोहरी भूमिकाएँ निभाना पड़ती है। उसे दोनों जगह का ख्याल रखना पड़ता है। "बस-बस दीदी अब कितनी बार यहाँ सब पूछेंगी। इतना सब अगर मेरी जगह मेरे लिए ले आए तो मैं खुशी से पागल ही हो जाऊँ ..... और एक तुम हो जो हर साल इतना सब कुछ ले जाती हो। बीच में कोई आता है तब भी कुछ न कुछ भेज देती हो। कभी भाभी का जन्मदिन, कभी भतीजी का जन्मदिन, कभी भतीजे का जन्म दिन, कभी भाभी की शादी की सालगिरह।"

"मैं बड़ी हूँ न, दोनों भाई मुझसे बहुत छोटे है जब मेरी शादी हुई तब छोटा वाला नौवीं में पड़ता था और बड़ा वाला बारहवीं में था। भला उनसे मेरी क्या बराबरी। मैं एक ही तो बहिन हूँ उनकी, बच्चों की एक ही बुआ। मैं ही उनके चाव पूरे नहीं करूँगी तो कौन करेगा?"[16]

संयुक्त परिवार में एक दूसरे से मिलकर रहने पर कितना आनंद मिलता है। देवरानी जिठानी मिलकर रहे तो उनमें बहिनों जैसा प्यार होता है - "एकाएक चौंक गई सज्जो भाभी सोने की सुन्दर चैन अपने गले में देख। मझली पीछे से हुक बन्द कर रही थी। यह तुम्हें ताई अम्मा बनने की बधाई हैं दीदी। मैंने पहले ही बनवाकर रख ली थी ..... "

लेकिन इतनी महँगी चीज ...... नहीं ...... ये। "तुम्हारे प्यार से तो कीमती नहीं है। मैं तुम जैसी बहिन पाकर धन्य हो गयी हूँ दीदी।"

..... स्नेह से गले लगा लिया देवरानी को। जीवन में पहली बार ऐसा लग रहा था जैसे वह अनजान सुखद अनुभूति के नीचे दब गई है। हमेशा सबको देती रहती थी। बड़ी होने के नाते किसी से भी लेना अच्छा नहीं लगता था। लेकिन लेने का अपना ही एक आनंद है, यह आज ही जान पाई।

"अरे-रो रही हो दीदी ..... क्यों?"

"कुछ भी तो नहीं। यों ही ..... खुशी के मारे।"[17]

परिवार में माता का स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। उसे संतान के सुख-दुख की विशेष चिंता होती है। वह कष्ट की स्थिति को जितना जानती है दूसरा नहीं जान सकता। इसलिए तो वह पुत्र के जरा भी दुख में विचलित हो उठती है। पिता तो केवल आज्ञाकारिता तक विशेष जुड़ाव रखता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि पिता और सन्तान का संबंध आत्मिक नहीं होता। पुत्र पिता के गुणों का अनुसरण करता है। पिता बच्चों पर नियंत्रण रखता है। उसके चरित्र निर्माण में सहयोगी होता है। इसलिए उसका व्यवहार बच्चों के प्रति अन्दर से मृदुल होते हुए भी बाहर से कठोर होता है। जबकि माता का व्यवहार अन्तर और बाह्य दोनों स्थितियों से समरस, सरल और मधुर होता है। उसके व्यवहार में किसी प्रकार का दुराव नहीं होता। इसीलिए बच्चे माँ से नहीं डरते किन्तु पिता से भय खाते हैं।

परिवार में पति-पत्नी का संबंध

पति-पत्नी का संबंध आन्तरिक कर्तव्य बोध पर आधारित होता है। भारत की नारी पति को देवता समझकर उसकी प्रत्येक इच्छा और आज्ञा का पालन करती हुई पतिव्रत धर्म का वरण करती है। उससे विचलित नहीं होती भले ही उसे प्राण भी क्यों न समर्पित करने पड़ जाये। सुशील और सहृदय नारी घर की शोभा है। पति का अगाध स्नेह भी उसके लिए न्यौछावर है। वह एक स्वस्थ्य परिवार की स्थापना एक व्यवस्थित घर की संरचना करती है। उसके स्वस्थ विचारों से परिपोषित होकर परिवार सुखी और

समृद्धशाली बनता है। अन्यथा पुरूष अकेले की क्या औकात जो एक संभ्रान्त और एकनिष्ठ परिवार का स्पप्न भी देख सके। वृद्धावस्था में भी ऐसी पतिपरायण नारी पति के लिए बहुत सहारा होती है।

भाई-बहिन एवं भाई-भाई का संबंध

भारत में भाई-बहिन का प्रेम विशुद्ध, सात्विक, दिव्य और आलौकिक माना गया है। आपसी वैमनस्य भी दोनों के खून के संबंध को अलग-अलग नहीं कर सकते। बहिन को अपने भाई पर गर्व होता है, उसके बल का भरोसा होता है तभी तो वह दूसरों का विरोध करने से पीछे नहीं हटती।

देवर-भाभी के संबंध

भारत वर्ष में देवर-भाभी का संबंध काफी निकट का और मधुर माना जाता है।

ससुर-बहू तथा जेठ-बहू के संबंध

बहुएँ ससुर से पर्दा करती है तथा वश भर उनके सामने पड़ने से कतराती हैं। जेठ के साथ भी पर्दा तथा आदर का भाव होता है।

सास-बहू तथा जेठ-बहू के सम्बन्ध

भारत वर्ष में जहाँ पिता-पुत्र, माता-पुत्री, पति-पत्नी, भाई-बहिन का लोकोत्तर प्रेम दिखाई पड़ता है, वहाँ सास-बहू, ननद-भाभी और सपत्नियों में पारस्परिक कलह और कटुता का व्यवहार देखने को मिलता है। कहावतों में प्राप्त सामग्री के अनुसार सास अपनी बहू से कठोर व्यवहार करती है। शारीरिक कष्ट भी देती है और उसकी सुख-सुविधा में विघ्न बनती है। अपनी लड़की के प्रति उनका स्नेह अधिक होता है। परिणामतः यह असंतोष धीरे-धीरे कलह और संघर्ष का रूप धारण कर लेता है। यहाँ तक कि बहू अपनी सास से बोलना-चालना तक छोड़ देती है। दोनों में संबंध-विच्छेद हो जाता है।

कभी-कभी तो बहू की शिकायतें उसके पति से भी की जाती हैं। जिससे कई बार बिना अपराध के ही उसे पति की प्रताड़ना के साथ-साथ त्याग की स्थितियों का भी सामना करना पड़ता है।

ननद और भाभी के संबंध

अशिक्षित और संस्कारहीन परिवारों में ननद और भाभी का संबंध विषाक्त ही देखने को मिलता है। ननद अपनी माँ और भाई से भाभी की शिकायतें करती है। और बात-बात में भाभी पर व्यंग्य बाण छोड़ती है। उसको अपलोक लगाने के लिए नये-नये अवसर खोजती है। इन्हीं सब कारणों से ननद को भाभी की पीड़ा और परेशानियों का कारण समझा जाता है। ननद को अपने व्यवहारों का ज्ञान तब होता है। जब वह विवाहित होकर ससुराल जाती है और उसकी ननद वहाँ उसे परेशान करती है ननद के व्यवहार से भाभी को इतनी कटुता हो जाती है कि फिर उसे ननद का मायके आना भी बुरा लगता है। कभी-कभी उसके हृदय में ननद से बदला लेने का भाव भी जाग उठता है।

सपत्नियों में संबंध

प्रायः सपत्नियों में एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या के भाव पाये जाते हैं। इस ईर्ष्या का एकमात्र कारण एक दूसरे के अधिकारों पर अपना-अपना आधिपत्य स्थापित करने लगना है। जिस वस्तु में अभी तक सिर्फ एक का अधिकार था अब दो जगह वितरित हो जाती है। यह स्थिति नारी कभी बर्दास्त नहीं कर पाती, और फिर पति का प्रेम जिसे वह किसी जड़ वस्तु के लिए भी बाँटना पसंद नहीं करती, दूसरी स्त्री में बँट जाए उसे वह कहाँ तक सहन कर सकती है। जिसकी माँ इतनी खटकती है उस लड़के के लिए वह अपने हृदय में प्यार कहाँ से लाये।

इस प्रकार संयुक्त परिवार में एक साथ रहने वाले विभिन्न सदस्यों के आपसी संबंधों में प्रेम-सौहार्द के साथ-साथ कहीं-कहीं कुछ खनक भी पड़ती है। किन्तु बड़ों की सूझ-बूझ और व्यवस्थापन कुशलता से सभी एक सूत्र में निबद्ध परस्पर संबंध बनाये हुए कार्य करते हैं।

"जीवन की गति सरल और ऋजु नहीं है। कदम-कदम पर हमें दो अच्छाइयों में से एक का परित्याग और दो बुराईयों में से एक का वरण करना पड़ता है। यह द्वंद स्थिति जीवन का ट्रेजिक सत्य है।"[18]

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार- "हम जिस युग में रहते हैं उसकी प्रवृत्तियों को ग्रहण करने, उस युग की महत्ता को समझने और हमारे लिए प्रस्तुत उद्देश्यों को महसूस करने और उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होने पर ही जीवन का कोई अर्थ है।"[19]

दायित्वों की पूर्ति के लिए साहित्य ही सर्वाधिक सशक्त माध्यम है। "नई कहानी और समस्त लोग नामक निबंध में कमलेश्वर ने कहा है कि जीवन दृष्टि ही वह बिन्दु है, जिसके बदलने से कहानी का परिप्रेक्ष्य बदल जाता है। पुराने लेखकों का रास्ता साहित्य से जीवन की ओर था, पर नई कहानी ने इस रास्ते को बदला है और अब यह रास्ता जीवन से साहित्य की ओर है। अपने इसी लेख में कमलेश्वर ने कहा कि नई पीढ़ी प्रेम के (या किसी भी प्रसंग के) घिसे-पिटे रूप को स्वीकार नहीं करती। ..... समकालीन बोध भोगे हुए यथार्थ से ही प्राप्त होता है ..... इसलिए हम जीवन के साक्षात् बोध को स्वीकार करते हैं।"[20]

'साहित्य समाज का दर्पण है।' यह बात आज वर्तमान समय में कितनी सत्य हो रही है इसका निर्णय सामाजिक परिवर्तन को देखकर किया जा सकता है। मानवीय मूल्य, नैतिक मूल्य एवं मर्यादाएँ लुप्त होती जा रही हैं। मनुष्य के बीच आपसी ताल-मेल समाप्त होता जा रहा है।

देश और समाज में हो रहे परिवर्तन ने नारी जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है। नारी का वास्तविक रूप, उसकी अस्मिता, उसका अस्तित्व, इसके आदर्श अब घर तक सीमित नहीं रह गये हैं वरन् उसकी दिनचर्या ने इसी को अपनी नियति मान लिया है।

घर-परिवार, सामाजिक, आर्थिक सभी जगह के कार्यकलापों में संघर्षमय नारी की स्थिति आज एक मशीन के समान हो गयी प्रतीत होती है। नारी की सामाजिक, मानसिक, आत्मिक पीड़ा कम नहीं हुई आज के समाज के बीच संघर्ष करती नारी कितनी बार टूटती बिखरती है। लेकिन फिर भी जीने के लिए विवश है।

दहेज, भ्रूण-हत्या, सामाजिक, राजनैतिक और पारिवारिक-जीवन, अनगिनत दायित्वों को पूरा करती नारी हर तरफ से घिरी हुई है। वह स्वयं मात्र शर्तों का प्रतीक बन गयी है। ऐसी स्थितियों में सुख-आराम और पारम्परिक नायिका को ही मुस्काती प्रतीक्षा करती छवि साहित्य के लिए कल्पना मात्र रह गयी है, फिर भी नारी सहन कर रही है। औरत तीसरी दुनिया की हो या अन्य देश की, हमारे समाज की ही या अन्य समाज की, उसका दर्द, उसकी यातना उसका संघर्ष, उसकी लड़ाई, एक समान है। सामाजिक, राजनैतिक और पारिवारिक अपमानों और निष्कासन के बाद भी अक्षय शक्ति समेटे वह स्त्रोतस्विनी के समान बढ़ती जा रही है।

''रचनाकार अपनी भाषा को अपनी आवश्यकतानुसार कुम्हार को मिट्टी की तरह हर बार नई तरह से तैयार कर रहा है वह स्वयं भी नहीं जानता कि जो भाषा वह अपनी संवेदना के आधार पर तैयार कर रहा है। वह कब तक विकसित होती चली जायेगी। क्योंकि साहित्य में यह किसी को पता नहीं होता है कि समय किस रचना को कब नई तरह से व्याख्यायित कर दें और उसे अपनी आवश्यकता बना ले। रचनाकार को उसकी संवेदना तब तक वह उसके अनुरूप मुहावरा नहीं पा लेता। अगर वह इतना न करे, संवेदना, भाषा और यथार्थ अथवा अनुभव का कभी भी सामंजस्य नहीं हो पायेगा। लेखक को अतीत, वर्तमान और भविष्य में निरंतर एक साथ जीना पड़ता है।''[21]

''साहित्यकार में वर्तमान, भविष्य और अतीत के साथ जितना घनिष्ट-संबंध होगा, उसकी रचना उतनी ही महान होगी। भारतीय सामाजिक व्यवस्था के इतिहास में स्त्रियों की स्थिति एक लंबे समय तक विवाद का विषय रही हैं, वैदिक और उत्तरकाल के पश्चात् हमारे समाज की मौलिक व्यवस्थाएँ रूढ़ियों के रूप में परिवर्तित होने लगी। जिसके फलस्वरूप स्त्रियों में लज्जा, ममता और स्नेह के गुणों को उनकी दुर्बलता समझकर पुरूषों ने उन पर एकाधिकार करना आरंभ कर दिया। ऐसी प्रवृत्तियों की स्मृतिकारों और धर्माशास्त्रकारों का आर्शीवाद प्राप्त होने के कारण स्त्री परतंत्र निःसहाय और निर्बल बन गयी। पुरूष ने शक्ति के लोभ में स्त्री के पारिवारिक अधिकारों को छीन लिया इन परिस्थितियों का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू समाज में स्त्री की स्थिति एक दासी से अच्छी नहीं रह पायी इसके उपरांत कई शासनकालों का आवागमन हुआ और स्त्रियों का पतन होता गया।''[22]

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में भारत में स्त्रियों की स्थिति में सुधार करने और सामाजिक रूढ़ियों का प्रभाव कम करने के लिए सुधार प्रयत्नों का आरंभ हुआ यह सत्य है कि स्त्रियाँ सामाजिक और पारिवारिक जीवन का मूल स्तम्भ हैं कुछ समय पूर्व भारतीय

स्त्रियों पर अनेक सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक एवं राजनैतिक निर्योग्यताएँ थोप दी गयीं थीं। अशिक्षा, ब्राह्मणवाद, कर्मकाण्डों की जटिलता, आर्थिक पराधीनता, कन्यादान का आदर्श संयुक्त परिवार प्रणाली बालविवाह, घूंघट प्रथा, विविध वैवाहिक प्रथाओं और मुस्लिम आक्रमणों के फलस्वरूप भारतीय स्त्रियों की स्थिति अधःपतन की ओर तेजी से अग्रसर हुई। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ से उनकी स्थिति में सुधार हुआ। देश को स्वतंत्रता के पश्चात् जीवन साथी चुनने का अधिकार, आर्थिक क्षेत्र में स्वतंत्रता, संबंध विच्छेद का अधिकार, पारिवारिक अधिकार,राजनीतिक, आर्थिक एवं व्यवसायिक क्षेत्रों में समानता के अधिकारों के फलस्वरूप भारतीय स्त्रियों की स्थितियों से अत्यधिक प्रगति हुई। इसके साथ ही शिक्षा का प्रसार, औद्योगीकरण, सामाजिक जागरूकता, अर्न्तजातीय विवाह और प्रेमविवाहों के प्रोत्साहन राजनैतिक चेतना में बुद्धि एवं वैचारिक सुविधाओं के कारण स्त्रियों की सामाजिक पारिवारिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक और व्यवसायिक स्थितियों में उन्नति हुई है। आज के बदलते समाज में भारतीय स्त्रियों की दशा में अत्यधिक परिवर्तन आ रहे हैं।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है और चूँकि समाज भी इसी प्रकृति का एक अंग है। इस कारण सामाजिक परिवर्तन भी प्राकृतिक या स्वाभाविक है। किसी भी ऐसे समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जो कि पूर्णतया स्थिर हो। परिवर्तन प्रत्येक समाज में होता है, अपरिवर्तनशील समाज का अस्तित्व वास्तव में नहीं हो सकता। यदि हम बीते हुए समाज से वर्तमान समाज की तुलना करे तो हमारे समाज के स्वरूप, संरचना आदर्शों, मूल्यों, संस्थाओं रीति-रिवाज में कितना परिवर्तन हुआ है, यह देखकर हमें आश्चर्य ही होगा। व्यक्ति का जीवन भी एक स्तर से दूसरे स्तर में परिवर्तित होता रहता है। पहले बचपन फिर युवावस्था फिर वृद्धावस्था फिर मृत्यु। इसी प्रकार सामाजिक जीवन में प्रत्येक पहलू में परिवर्तन होता रहता है। हाँ इतना अवश्य है कि समाज के किसी पहलू में परिवर्तन तीव्र गति से स्पष्ट रूप से होता है जबकि अन्य पहलुओं में परिवर्तन धीमी गति से तथा अस्पष्ट रूप से होता है।

सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन विभिन्न विषयों में समय-समय पर होता रहता है। दार्शनिकों, मानवशास्त्रियों और सामाजिक वैज्ञानिकों ने समाज में परिवर्तन की प्रक्रियाओं का अलग-अलग प्रकार से अध्ययन किया है। कार्लमार्क्स ने उत्पादन की व्यवस्था को परिवर्तन का केन्द्र बिन्दु माना है। मैक्स बेबर ने आर्थिक व्यवस्थाओं के विकास को परिवर्तन का आधार माना है। स्पेगलर ने अपनी पुस्तकों में पाश्चात्य समाजों के विकास और लॉस का अध्ययन किया है।

सामाजिक परिवर्तन में स्त्रियों की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण रही है। स्त्री को जीवन का स्त्रोत माना गया है। वह सामाजिक जीवन की धुरी है। भारतीय सामाजिक संगठन में प्राचीन काल से उसे अपना महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था। परन्तु बाद में भारतीय समाज में नारी की भूमिका निम्न हो गयी। उसे मात्र भोग की वस्तु माना जाने लगा था। लगभग पचास वर्षों में भारत में जो परिवर्तन हुए हैं। उनमें यहाँ की पूरी आबादी

प्रभावित हुई है। किन्तु समाज के कतिपय वर्गों पर इनका असर अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक हुआ। मध्यमवर्गीय स्त्रियों पर सामाजिक परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद महिलाएँ शिक्षा और रोजगार में भाग लने लगी। जैसे-जैसे स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार हो रहा था नारियों की स्थिति में परितर्वन आता जा रहा है। संचार के माध्यमों और सामाजिक गतिशीलता ने स्त्रियों की आकांक्षाओं में तीव्र गति से परिवर्तन किया। वे जीवन शैली वैवाहिक आकांक्षाओं और सामाजिक कुरीतियों को बदलने से स्वतंत्र एवं महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। संवैधानिक और राजनैतिक प्रक्रियाएँ भी इन परिवर्तनों को तीव्रतर करने में प्रोत्साहन दे रही हैं। पाश्चात्य देशों के संपर्क में आने से भारत के हर क्षेत्र में परिवर्तन हो रहे हैं।

संयुक्त परिवार एक ऐसी मजबूत इमारत है जहाँ बच्चों, बड़ों, बूड़ों सभी को सुरक्षा मिलती है। फिर भी बहुत से लोग इस सुरक्षा कवच को छोड़कर अलग गृहस्थी बसाना चाहते हैं।

अपने देश में एकल परिवारों का बढ़ता उन्माद और संयुक्त परिवारों की प्रथा को देखते हैं तो पश्चिम के से उदाहरण और अधिक महत्वपूर्ण जान पढ़ते हैं।

हालाकि संयुक्त परिवारों को इस टूटने के पीछे व्यक्तिवादी सोच, जीने के तौर तरीकों में नाटकीयता, घर में रहने की जगह, पैसे की तंगी, ब्याहता लड़की को उसके माता-पिता की अलगाववादी व गलत सलाहें तथा उपेक्षा के दंश आदि कई कारण गिनाये जा सकते हैं।

अधिकांश मामलों में महिला मुक्ति आंदोलन से प्रभावित और नौकरी के मोहपाश में बंधी युवतियों ज्यादा जिम्मेदार हैं, जो चाहती है कि विवाह होते ही उनका घर अलग हो। वे इस अकेले घर की मालकिन बने जिसमें पति के अतिरिक्त सास-ससुर, जेठानी-देवरानी, किसी की कैसी भी दखल अंदाजी न हो। कतिपय मामलों में यह सोच गलत नहीं है पर फिर भी जैसी पारिवारिक सुरक्षा संयुक्त परिवारों में मिलती है वैसी अन्यत्र नहीं।

"आस्ट्रेलिया के शहर मेलबोर्न के एक ईस्ट बैटले अंचल में रहने वाले पीटर बेनीगर से जब यह पूछा गया कि उसे फिर से अपने माता के पास रहना और अपने पुराने कमरे की स्मृतियों से जुड़ना कैसा लगता है, तो उसका उत्तर था कि बहुत अच्छा लगता है।

अपने पिता की मृत्यु के बाद जो पीटर बेनीगर अपने माता को अकेली छोड़कर अपनी पत्नी के साथ अलग रहने लगा था, आज वही पत्नी से संबंध-विच्छेद हो जाने के बाद पुनः अपनी बूढ़ी माँ के पास लौट आया है। पीटर जब माँ के पास आया तो उसे अपने हाथ से कॉफी बनाना भी भारी लगता था। लेकिन माँ के पास आकर उसे कोई असुविधा नहीं हुई। माँ अपनी इस आयु में भी पीटर का हर तरह से ख्याल रखती थी।

अधेड़ अवस्था के रोन ब्लैविट को अपनी नौकरी की वजह से बाहर आना-जाना पड़ता है फिर भी वह अपनी माँ के साथ ही रहता है। पैसे और सुरक्षा के अभाव में एकल परिवार की दुश्वारियाँ कितनी बढ़ जाती है इसे वह अच्छी तरह जानता है। यहाँ घर में यद्यपि उसकी बूढ़ी माँ को कम सुनाई देता है और घर में चलता ऊँचा टीवी भी रोन ब्लैविट को नहीं सुहाता तथापि वह अपने इस घर से पूरा सामंजस्य बनाए हुए है।

एक शोधकर्ता रोबिन हार्टले का कहना है कि यदि बूड़े माता-पिता और अधेड़ बेटे-बहू एक जैसे स्वभाव और आर्थिक स्तर के हो तो उनमें खूब निभती है।

उपरोक्त उदाहरणों से पता चलता है कि पश्चिमी देशों में भी जहाँ संयुक्त परिवार प्रथा अर्थात् तीन पीढ़ियों के परिवारों का लोप हुआ नजर आता है। संयुक्त परिवारों की प्रकृति फिर से जन्म ले रही है। इसकी एक वजह यह है कि जो वयस्क और बच्चे शादी के उपरान्त किन्हीं कारणों से अपनी गृहस्थी अलग बसाकर एकल परिवार में रहने लगे थे, उन्हें वहाँ वैसी सुरक्षा नहीं मिल पायी जैसी आमतौर पर संयुक्त परिवारों में रहकर मिलती है।

लंदन के एक मध्यमवर्गीय बस्ती इलिंग से रहने वाले टेरी और जिल को भी संयुक्त परिवार की अवधारणा अच्छी लगती है। क्योंकि उन्हें अपने कारोबार सुख-दुख और आमोद प्रमोद में किसी गैर का मुँह नहीं जोड़ना पड़ता। टेरी व उसके अन्य भाइयों का साझा-कारोबार है। वे निकट के अलग-अलग फ्लैटों में रहते हैं।

रविवार व अन्य छुट्टियों के दिन ये सारे भाई किसी भी एक भाई के घर, एकत्र होते हैं। वहीं से अपनी कारोबारी योजनाओं के बारे में इसके अलावा जब ये कहीं पर फुटबाल आदि का मैच देखने जाते हैं तो इनके पीछे इनकी पत्नियाँ रात के सामूहिक भोजन का बंदोबस्त करती हैं। वैसे भी एक दूसरे की मदद करने में जैसी तत्परता वे लोग दिखाते है, उसे देखकर कइयों को रश्क हो आना स्वाभाविक है।''[23]

समाज-शास्त्रियों का कहना है कि संयुक्त परिवारों के झगड़े भी कोई ज्यादा तूल नहीं पकड़ते, क्योंकि यहाँ किसी भी दिशा से अति होने पर रोक-टोक रहती है। यदि सास-ससुर और बहू बेटी के पास रहने की पर्याप्त जगह और संपत्ति हो और वे एक दूसरे पर पूरी तरह निर्भर न हो, तो पारिवारिक झगड़े कोई महत्व नहीं रखते।

झगड़े, मनमुटाव और नोक-झोंक प्रायः वहीं होते है जहाँ एक के मन में दूसरे के प्रति सदस्यता नहीं होती अथवा जहाँ पैतृक और साझी संपत्ति को लेकर खींचतान बनी रहती है। यह ठीक है कि आज अपने व्यवसाय और रोजगार संबंधी तकाजों के तहत किन्हीं दो भाइयों का एक ही जगह पर रहना संभव नहीं है। फिर भी यदि एक दूसरे से अलग रहने वाले भाइयों में अपने दुख-सुख को संयुक्त रूप से बाँटने का जज्बा कायम रहता है तो यह स्थिति भी कदाचित् उन एक परिवारों से कहीं बेहतर कही जा सकती है, जहाँ रोजाना पति-पत्नी की होती चखचख उन्हें पारिवारिक सुरक्षा का कैसा भी कवच नहीं दे पाती।

जहाँ देश व समाज में आर्थिक व जान-माल की सुरक्षा न हो, बेरोजगारी का बीमा न हो, बुढ़ापे के लिए सरकारी या सामाजिक तौर पर जरूरतों के विकल्प तक न हो, वहाँ संयुक्त प्रणाली किसी संजीवनी से कम नहीं है।

"संयुक्त परिवार वह किला है जहाँ असमर्थ बूढ़ों और अपरिपक्व बालकों की देखरेख व सुरक्षा हो सकती है। संयुक्त परिवारों में शारीरिक या मानसिक असमर्थता या दुर्घटना होने पर जैसी सेवासुश्रुषा मिलती है, वह अन्यत्र संभव नहीं। यहाँ वृद्धावस्था में भी भूखों मरने की नौबत नहीं आती।"[24]

एक जमाना था जब संयुक्त परिवारों में सिर्फ घर के बड़े-बूड़ों का ही हुक्म चलता था और उनका कहा ही पत्थर की लकीर माना जाता था। अब ये मान्यताएँ नहीं रहीं। आज तो नई पीढ़ियों के पौत्र-पौत्री के आधुनिक पहरावे या उनके स्टीरियो बजाने, बाहर घूमने आदि पर घर के बुजुर्ग यदि आपत्ति उठाते हैं तो वह भी उन्हें शूल की तरह चुभती है।

फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि बड़ों की टोका-टाकी में जैसा प्रेम भाव छिपा रहता है, वह भी कई अर्थों में सुरक्षात्मक ही होता है। ज्यादा खुलापन या स्वछंदता पाकर बच्चे कहीं बिगड़ और भटक न जाएँ, इसकी जैसी चिंता हमारे संयुक्त परिवारों में पायी जाती है, वैसी एकल परिवारों में नहीं।

विदेशी समाज शास्त्री इस बात को लेकर ज्यादा परेशान है कि उनके यहाँ संयुक्त परिवारों का ढाँचा सुदृढ़ न होने से एकल परिवारों के बच्चे उद्दंड, आवारा और गलत आदतों के शिकार बनते जा रहे हैं। अपने दादी-दादा, माता-पिता के प्रति भी बच्चों की भावनाएँ काफी शुष्क हैं। माता-पिता या अभिभावक इस बात का दावा नहीं कर सकते कि जैसे परवरिश और पारिवारिक सुरक्षा उन्होंने बच्चे को दी है वैसी ही वृद्धावस्था आने पर उनके बच्चे भी उन्हें दे पायेंगे।

मेरा संयुक्त रूप से पारिवारिक जीवन के संबंध में कहना है कि "कभी किसी सदस्य की विशेष चिंता नहीं होती, क्योंकि सब नजर के सामने रहते है। घरेलू उत्सव के समय सब मिलजुलकर हिस्सा लेते हैं, मिलजुलकर खर्च करते है।" संयुक्त रूप में रहने से परिवार के सभी सदस्यों में परस्पर सहयोग और त्याग की भावना विकसित होती हैं। किसी पर कोई बंधन नहीं होता। सब अपनी योग्यता और क्षमता के आधार पर कार्य करते हैं। सबके अधिकार भी समान होते है। भोजन भी एक सा एक रसोई में पकता है।

जहाँ चार बर्तन होते हैं, वे खनकते अवश्य हैं। अतः जहाँ देवरानी, जेठानी तथा उनके बच्चे सभी एक साथ रहेगें, वहाँ कभी बच्चों के कारण तो कभी आपस में विवाद अवश्य होते हैं। फिर भी स्नेहिल रिश्तों के बीच उठे विवादों का हल भी आसानी से निकल जाता है। सब आपस में मिलजुलकर इस विवाद को हल कर लेते हैं। घर का मुखिया बड़ी चतुराई से उन्हें समझा बुझाकर पुनः एक कर देता है। इसीलिए घर में एक बुजुर्ग का होना जरूरी है।

आज के बदलते रीति-नीति और सामाजिक परिवेश में संयुक्त परिवार कम ही देखने को मिलते है, फिर भी लोगोंमें मिलजुलकर जीने का रूझान काफी है। अभी भी हमारे समाज में संयुक्त परिवार के खुशहाल जीवन यापन की भरपूर सहभागिता लिए हुए अनेक मिसाल दृष्टि गोचर होते हैं।

प्राचीनकाल में प्रायः भारत में संयुक्त परिवार का ही प्रचलन था, जिसमें तीन या चार पीढ़ियों के सदस्य एक ही छत के नीचे रहते थे। सबका भोजन एक ही रसोई के नीचे पकता था सभी सदस्य उत्सवों और तीज-त्यौहारों में खुशी से शरीक होते थे। सभी की संपत्ति तथा आय पर सबका समान अधिकार था और उसकी डोर घर के मुखिया के हाथ में होती थी। परिवार के सदस्यों में आपसी सद्भाव होता था। एक दूसरे के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझने की संवेदना होती थी और मदद, मनुहार की उत्कृष्ट आकांक्षा। इतना ही नहीं विदेशी हुकूमत जब हमारी सांस्कृतिक धरोहर को कुचलने पर आमादा थी तब हमारे संयुक्त परिवारों ने ही सांस्कृतिक धरोहर को आपसी भाई-चारे और प्रेम को बनाये रखा। समाज में एक रसता बनाये रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

आज के औद्योगिकीकरण, शहरीकरण तथा भौतिकवादी जीवनमूल्यों के कारण संयुक्त परिवार प्रणाली की संरचना में बहुत परिवर्तन हो गया है। आज संयुक्त परिवार वह कहलाता है, जिसमें पति-पत्नी, पति के वृद्ध माता-पिता, अविवाहित भाई-बहिन शामिल होते हैं। जिसमें रहते तो सब एकत्रित हैं लेकिन रसोई अलग-अलग पकती है। दूसरा वह जिसमें रसोई एक ही जगह पकती है। दोनों ही तरह के संयुक्त परिवार जो एक साथ रहने के साथ-साथ खुश हैं, विरले ही मिलते हैं।

ऐसे कई परिवारों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि संयुक्त परिवार प्रणाली में अभी स्नेह सानिध्य मौजूद हैं। घर के बुजुर्ग के साथ सब एक ऐसी अनजानी डोर से बंधे हैं कि घर का प्रत्येक सदस्य परिवार की एकरसता बनाये रखने का अथक, प्रयास करता है।

संयुक्त परिवार में रह रहे एक नवयुवक संजय का कहना है, ''आज जिस गति से जनसंख्या बढ़ रही है उतनी तेजी से आवास की समस्या भी उभरकर सामने सिर उठाये खड़ी है। ऐसे में संयुक्त परिवार प्रणाली अत्यंत उपयुक्त है। संयुक्त रूप से रहने में न तो जमीन के टुकड़े के टुकड़े होते हैं न घर के सदस्य इधर-उधर छिटकते हैं और न माँ-बाप के दिलों का विभाजन होता है।''

एक घर की बड़ी बहू इन्दू कहती है कि ''एक साथ रहने से सभी सदस्य सुख-दुख में एक होकर काम करते हैं। आपसी सहयोग से कठिन कार्य भी आसान हो जाता है।''

यह सच है कि आज हम जिस समाज में रह रहे हैं, वहाँ हमें कई समस्याओं से जूझना पड़ता है जैसे-आवास की समस्या, सामाजिक सुरक्षा की समस्या, अत्यधिक खर्च की समस्या घर के किसी सदस्य के बीमार होने पर अकेलेपन का एहसास आदि। इन समस्याओं का निदान संयुक्त परिवार में सहजता से हो जाता है।

संयुक्त परिवार के अंतर्गत परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को परिवार द्वारा सामाजिक सुरक्षा प्राप्त होती है। अपाहिज, लंगड़ा, बहरा, अंधा, अनाथ, विधवा व वृद्ध सभी के अधिकार भी समान रहते हैं और सबको समान सुरक्षा मिलती है। अलग-अलग खाना पकने से खर्च अधिक होता है जबकि संयुक्त परिवार में खाने पीने पर खर्च कम होता है। साथ ही वहाँ भूमि तथा अन्य संपत्ति का विभाजन नहीं होता है। अपनी योग्यातानुसार सभी कार्य करते हैं और आवश्यकतानुसार धन पाते हैं।

इतना ही नहीं संयुक्त परिवार एक छोटे से बैंक का काम करता है जो वक्त बेवक्त काम आता है। संयुक्त रूप से रहने से परिवार के प्रत्येक व्यक्ति में स्नेह, प्रेम, स्वाभिमान, अनुशासन, सहनशीलता, आत्मविश्वास, आज्ञापालन की भावना पायी जाती है।

संयुक्त परिवार वास्तव में अपने आप में ऐसी सहकारी संस्था है जिसके सभी सदस्य अपनी संस्था की बहुमुखी उन्नति की कामना करते हैं।

''वैयक्तिक समस्याओं के हल में अतिशय भावुकता का समावेश हो जाने के कारण वे अपने वस्तुगत आधारों और संदर्भों से कट जाती है फिर भी समस्याएँ सामाजिक और महत्वपूर्ण हैं।''[25]

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. *गोदान, प्रेमचंद, पृ. 177*
2. *हिन्दी उपन्यास एक नई दृष्टि : डॉ. इन्द्रनाथ मदान, पृ.10-11*
3. *फणीश्वर नाथ रेणु : व्यक्तित्व, काल और कृतियाँ गोपीकृष्ण प्रसाद, पृ. 88*
4. *हिन्दी उपन्यास, शिवनारायण श्रीवास्तव, पृ. 58*
5. *स्वतंत्र भारत की एक झलक, डॉ. बापूराम मिश्र, पृ. 236*
6. *भूले बिसरे चित्र : भगवती चरण वर्मा, पृ. 386*
   राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
   1-बी नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली - 110002
   पुर्नमुद्रित : 1993 (प्र.सं.1959)
7. *प्रेमचंद : रामरतन भटनागर, पृ-135*
8. *प्रेमचंद : रामरतन भटनागर, पृ-139-140*
9. *प्रेमचंद : रामरतन भटनागर, पृ-30/31,*
   किताब महल, 56 ए, जीरो रोड-इलाहाबाद
10. *ईसुरी - पृ. 56 बुंदेली पीठ डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि. सागर*
11. *रचना के सरोकार, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ. 17*
    वाणी प्रकाशन 4697/5, 21-ए दरियागंज नई दिल्ली-110002
    प्रथम संस्करण 1987,
12. *रचना के सरोकार, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ. 16*
    प्रथम संस्करण 1987, वाणी प्रकाशन 4697/5,
    21-ए दरियागंज नई दिल्ली-110002

13. रचना के सरोकार, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ. 25
प्रथम संस्करण 1987, वाणी प्रकाशन 4697/5,
21-ए दरियागंज नई दिल्ली-110002
14. मानववाद और साहित्य, नवल किशोर, पृ-125
15. ईसुरी : अंक 16 वर्ष 1996-97, पृ. 57-58
बुन्देली पीठ डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर
16. सरिता : दिसम्बर (द्वितीय) 1992, पृ. 138
17. सरिता : दिसम्बर (द्वितीय) 1992, पृ. 144
18. साहित्य समीक्षक और संस्कृति बोध : डॉ. देवराज, पृ. 8
प्रथम संस्करण 1977, मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड,नई दिल्ली-1100035
19. पूर्व और पश्चिम : डॉ. राधाकृष्णन, पृ. 131
20. धर्मयुग, 27 फरवरी 1966
21. 'सामाजिक यथार्थ और कथा भाषा'
सं. सच्चिदानंद वात्स्यायन, पृ-47-48 नेशनल पब्लिशिंग हाऊस,
23 दरियागंज, नईदिल्ली 110002
22. इतिहास और आलोचना, नामवर सिंह, पृ - 30
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 8, नेताजी सुभाष मार्ग,
नईदिल्ली 110002 चौथा संस्करण- 1986
23. सरिता : जुलाई (प्रथम) पृ. 85-86, 1994
24. सरिता : जुलाई (प्रथम) पृ. 88, 1994
25. व्यक्ति चेतना और स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : डॉ. पुरूषोत्तम दुबे, पृ. 399

◆◆◆

3

आधुनिक हिन्दी कथा–साहित्य पर समसामयिक प्रभाव

- **कथा-साहित्य और समाज**
- **कथा-साहित्य और पारिवारिक चेतना**

हर समाज अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तित होता रहता है जाहिर है ये परिवर्तन सुख-सुविधा और उन्नति के लिए होती है। एक जमाना था जब धर्म राजनैतिक निर्णयों में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था। आज यद्यपि धर्म का राजनैतिक हस्तक्षेप देखने को मिल जाता है। किन्तु वह सर्वोपरि नहीं है उसकी स्थिति लोगों की रूचि, अरूचि से जुड़ गयी है। उसका स्थान अब राजनीति ने ग्रहण कर लिया है। राजनैतिक निर्णय धीरे-धीरे न्याय प्रक्रिया द्वारा प्रताड़ित होने लगे हैं ऐसी स्थिति में शीघ्र ही न्याय व्यवस्था हमारे समाज का केन्द्रीय बिन्दु बन सकती है। साहित्य समाज का दर्पण कहा जाता है। दर्पण अपनी ओर से किसी सूरत को सुन्दर, असुन्दर नहीं बनाता वह तो जो सूरज जैसी है उसे उसी तरह दिखाता है। साहित्य लगभग दर्पण की भूमिका निभाता है पारिवारिक चेतना, परिवार का संगठन और परिवर्तित सामाजिक व्यवस्था में परिवार की स्थिति पर ध्यान देना इस अध्याय का प्रमुख विषय है जो समय जैसा होगा साहित्य के आइने में वैसा ही दिखाई देगा। 1962 का वर्ष भारत और चीन के बीच युद्ध का वर्ष होने के कारण और भारत की शर्मनाक पराजय की दृष्टि से मोहभंग का वर्ष है। इस वर्ष जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व का आधार क्षय होता है और उनके नेतृत्व की छाया के तले निश्चित बैठे लोग आतंकित और भयभीत होने लगते हैं। इसीलिए 60 के दशक के उत्तरार्द्ध और सत्तरवें दशक पूर्वार्द्ध में राष्ट्रीय स्तर पर शंका का वातावरण निर्मित होता है। यह सारा संदेह सारा पारस्परिक, अविश्वास और आस्थाहीनता समकालीन साहित्य में देखने को मिलती है। कविता में कहानियाँ, उपन्यास तथा संस्मरणों में संकट, अनास्था और अविश्वास के पृष्ठ बखूबी पहचाने जा सकते हैं।

भारतीय साहित्य में कहानी का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद के यम-यमी, पुरूरवा-उर्वशी, सरमा और पाणिगण जैसे लाक्षणिक संवादो, ब्राह्मणों के सोपर्णी-काद्रव जैसे रूपकात्मक आख्यानों महाभारत के गंगावतरण, श्रृंग, नहुष, ययाति, शंकुतला, नल आदि जैसे

उपाख्यानों गीता के प्रवचनों, हरिवंश परिशिष्ट ब्रह्माण्ड ब्रह्म, शिव, स्कंद जैसे पुराणों के वार्तालापों में खोजा जा सकता है। इनमें कहानी की प्रेरणा का आधार, धार्मिक विचार, आध्यात्मिक तत्व चिंतन तथा नीति और कर्तव्य की शिक्षा देना है। यही कहानी व्यंजनापूर्ण रूपकों से वर्णन प्रधान चरित्रों तक रमी हुई है।

प्राचीनकाल से कहानी का प्रवाह व्यंजन प्रधान कथा, रूपकों से इतिवृत, कार्य, चरित्र और वातावरण की प्रधानता की ओर रहा है। जनता की अपने चरित्र नायकों के प्रति अटूट श्रद्धा तथा युग प्रेम की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के कारण कथा-साहित्य की परम्परा का निरंतर विकास होता जा रहा है। संस्कृत, पाली, प्राकृत के कथा साहित्य की परंपरा अपभ्रंश में भी प्राप्त होती है। इसमें राजाओं के आख्यान और चरित्र लिखे गये। हिन्दी के आदिकाल से रीतिकाल गद्य के अभाव से भी कथा प्रेम की प्रवृत्ति देखी गयी है। उसने गीतों, प्रबंधों और मुक्तकों में अपना स्थान बनाया है।

हिन्दी के पूर्ण मध्यकाल में भारत में मुसलमानों के स्थिर हो जाने पर विदेशी संस्कृति के प्रभाव से लैला-मजनू शीरी-फरहाद्, युसुफ-जुलेखा इत्यादि का भी आगमन हुआ। लोक कथाओं के आधार पर काव्य कथा लिखने वाले प्रेममार्गी सूफी कवियों के प्रेमख्यानों में कथा माला में धागे के समान बनी हुई है। किन्तु ये उड़न खटोला, लड़ाकू, घोड़ा, देवी-देवता, राक्षस-देव, अप्सरा प्रेम के अद्भुत चमत्कारों के प्रसंग से अलौकिक, अविलौकिक और अस्वाभाविक हो गयी है।

''वैदिक काल में भारत के निवासी सामाजिक दृष्टि से भिन्न वर्णों में विभक्त किये गये। पर इतना होते हुए इन वर्णों में एकता स्थापित की गयी थी। 'ऋग्वेद' के दशम् मण्डल में लेख है कि विराट पुरूष के मुख से ब्राह्मण, बाहू से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य एवं पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। उत्तर वैदिक काल से जातियों एवं उपजातियों का विकास हुआ हिन्दुओं में यह पद्धति आज तक विद्यमान हैं। मुस्लिमों में भी जाति प्रथा आ गई, सामाजिक दृष्टि से वे शेख, सैय्यद, मुगल, पठान के रूप में विभक्त किये जा सकते हैं।

विभिन्न प्रकार के धर्मों से जुड़े भारतीय समुदाय के लोगों के भिन्न-भिन्न रीति-रिवाज, विश्वास, खान-पान व रहन-सहन के तरीके रहे हैं। पर इतना होते हुए भी विभिन्न जातियों एवं समुदाय के लोगों ने भारत की संस्कृति को आदर्श मान सामाजिक जीवन प्रणाली को चुना है। विभिन्नता में एकता की भावना भारतीय सरलतापूर्वक ग्रहण कर अपने सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू में उतारते रहे हैं। देश-विदेश के फैशन खान-पान रीति-रिवाजों को ग्रहण करने के उपरान्त भी वे भारतीय हैं।''[1]

डॉ. शंकरदयाल शर्मा का विश्वास है कि सभी आत्माओं का उद्गम विश्व की आत्मा से हुआ। यह विश्व जनक की आत्मा सर्वोपरि है और जितने प्राणी है सभी इसी के अंश हैं। एक व्यक्ति जो अपनी आत्मा की तरह दूसरों की आत्मा देखता है। वह दूसरों से घृणा नहीं करता और एकाकी अनुभव नहीं करता, वह सभी को प्यार करता है और सभी से सामंजस्य रखता है वरन् अपने आचरण में भी सिद्धांतों का पालन करता है।

डॉ. शंकरदयाल शर्मा के अनुसार - "जो व्यक्ति अपनी आत्मा की तरह दूसरों की आत्मा देखता, अनुभव करता है वह दिव्य गुणों से विभूषित होता है। उसके चरित्र में क्षमा, दया, सेवा और उदारता के गुण सहज प्रस्फुटित होते हैं। वह दूसरों का प्रिय बन जाता है और संपूर्ण जीवन में 'आनंद' प्राप्त करता है।"[2]

'यजुर्वेद' के श्लोक को उद्धृत करते हुए कहते हैं "कि सभी मित्र की भाँति मुझे देखें और हम सब दूसरे को मित्र की तरह देखें। 'अथर्ववेद' के पृथ्वी युक्त की बात को वह दोहराते हैं - "यह पृथ्वी जो विभिन्न विचारों और भाषाओं के लोगों को आश्रय देती है और शांतिपूर्ण विकास प्रदान करती है। उससे हम सभी का लाभ हो। हम सभी पृथ्वी की संतान है और धरती माँ हमें परस्पर सौहार्द्ध और सामंजस्य से रहने की शक्ति दें। हम परस्पर मधुरता से व्यवहार कर सकें। ऋग्वेद के चिंतन के डॉ. शर्मा प्रबल समर्थक हैं जिसमें सभी मनुष्य जाति को एक कहा गया है।"[3]

"जाति वर्ग और धर्म के भेद मनुष्य ने उत्पन्न किये हैं। सत्य के लोक में उनका कोई स्थान नहीं है। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि आज का युग इस समृद्ध और सर्वकालिक चिंतन को भूलता जा रहा है और मनुष्य-मनुष्य के बीच अनेक प्रकार की दीवारें खड़ी करके उन्हें तोड़ता जा रहा है, उन्हें भटका रहा है। धर्म किसी भी प्रकार तोड़ता नहीं है। मेरी दृढ़ धारणा है। जो भी विचार मनुष्य को मनुष्य से तोड़ता है वह चाहे जो कुछ भी हो, लेकिन धर्म कदापि नहीं हो सकता। धर्म मनुष्य को तोड़ता नहीं बल्कि जोड़ता है कि उनमें धर्म, भाषा, क्षेत्र, देश और काल का भेद समाप्त हो जाता है और मनुष्य-मनुष्य के बीच अद्वैत की भावना की स्थापना हो जाती है। यही धर्म है।"[4]

धर्म बाह्य सत्य नहीं है। धर्म आंतरिक विश्वास की चीज और उसका बाह्य कर्मकाण्ड से कोई संबंध नहीं है वह कहते हैं कि धर्म हमारे और समाज के लिए है और धर्म का अर्थ है मानव जाति को समाज के हित में उच्चता की ओर प्रेरित करना न कि मनुष्य को बंधनों में जकड़कर उसके विकास को रोकना।

एक आलोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है, और कथा, में सब कुछ काल्पनिक होते हुए भी यह सत्य है। इस कथन का आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है कि इतिहास आदि से अंत तक हत्या, संग्राम और धोखे का प्रदर्शन है जो असुन्दर है इसीलिए असत्य है। लोभ की क्रूर से क्रूर, अहंकार की नीच से नीच ईर्ष्या की अधम से अधम धारणाएँ आपको वहाँ मिलेगी और आप सोचने लगेंगे कि मनुष्य इतना अमानुषीय है। छोटे से छोटे स्वार्थ के लिए भाई-भाई की हत्या कर डालता है। उसे पढ़कर मन में ग्लानि होती है। आनंद नहीं, और जो वस्तु आनंद प्रदान नहीं कर सकती, वह सुन्दर नहीं हो सकती जहां आनंद है वहीं सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है, पर उसका प्रधान गुण है आनन्द प्रदान करना, और इसीलिए वह सत्य है। मनुष्य में जगत में जो कुछ सत्य और सुन्दर पाया है और पा रहा है, उसी को साहित्य कहते हैं।

मनुष्य जाति के लिए मनुष्य ही विकट पहेली है। वह खुद अपनी समझ में नहीं आता। किसी न किसी रूप में वह अपनी आलोचना किया करता है, अपने ही मनोरहस्य खोला करता है मानव संस्कृति का विकास ही इसीलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। आध्यात्म और दर्शन की भाँति साहित्य भी इसी खोज में लगा हुआ है, अन्तर इतना ही है वह इस उपयोग में रस का मिश्रण करके उसे आनंदप्रद बना देता है, इसीलिए आध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए है साहित्य मनुष्य मात्र के लिए।

"ज्ञान का समाजशास्त्र सूचनाओं से समझ में समझ से ज्ञान में, ज्ञान से चिंतन की आदतों में, चिंतन की आदतों से आचरण में, आचरण से चरित्र में, चरित्र से नियति में (भाग्य नहीं) नियति से सांस्कृतिक चक्रों में तथा सामाजिक सांस्कृतिक चक्रों से दर्शन में उत्कर्ष प्राप्त करता है इस तरह मनुष्य अपने तात्कालिक अनुभवों का अतिक्रमण करने पर ही चेतना प्राप्त करता है जो समाज के इतिहास तथा मानवता के इतिहास के नियमों से समृद्ध होकर सामाजिक चेतना बनती है। तथा सामाजिक वर्ग संघर्षों में तपकर क्रांतिकारी अनुभव से उसकी क्रांतिकारी चेतना भी हो जाती है। इसके विपरीत सामाजिक चेतना विसंगत, भ्रमित और विकलांग भी होती है। आधुनिक युग तथा आधुनिक बोध में दोनों ही दशाएँ मिलतीं हैं। एक ही समाज में अथवा एक ही व्यक्ति में भी ये दो दिशाएँ मिल सकतीं है, तथा दो अलग-अलग व्यवस्थाओं में पृथक भी हो सकती हैं।"[3]

कहाँ से प्रारंभ करूँ और कहाँ अंत करूँ यह मेरे लिए बहुत ही कठिन कार्य है। यदि मेरा कुछ होता तो मैं वहाँ से प्रारंभ करने की बात करती, पर क्या है मेरा जिसे मैं आधार बना सकूँ। सभी कुछ तो समाज की देन है। भारतीय परम्परा के अनुसार व्यक्ति जन्म के साथ ही तीन ऋणों का भार लेकर आता है, जिसमें से पहला ऋण है पितृऋण, दूसरा ऋषि ऋण व तीसरा ऋण देव-ऋण है। इन तीनों ऋणों के भार से मुक्ति पाना अनिवार्यता है। यदि कोई व्यक्ति इन तीन ऋणों के भार से मुक्ति के बिना किसी तरह का कोई दावा करता है तो वह दावा अपने आप को धोखा देने के समान है। मैं भी भारतीय परम्परा को मानती हूँ अतः इन तीनों ऋणों के अस्वीकार की बात कम से कम मैं तो नहीं कर सकती हूँ।

ये तीनों ऋण समाज की महत्ता को स्पष्ट कर देते हैं। यह शरीर माता-पिता का दिया हुआ है, ज्ञान-विज्ञान जन्म के साथ नहीं अपितु ऋषि-मुनियों से प्राप्त हुआ है और भौतिक साधन देवताओं की देन है कहने का अर्थ यह है कि जो कुछ है वह तो हमें अनायास की प्राप्त हो गया है। इस परम्परा को आगे बढ़ा देना ही हमारा कार्य है। अब इसे ऋण मुक्ति कहा जाय या सेतु का कार्य।

प्रेमचंद के अनुसार "किन्हीं भी दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलती, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह, होते हैं पर इतनी भी समानता जिस तरह उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति

सब आदमियों के चरित्र में भी बहुत कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती हैं। यहीं चरित्र संबंधी समानता और विभिन्नता, अभिनत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्तव्य है।"[6]

पात्रों के इर्द-गिर्द फैला हुआ वातावरण, परिस्थितियाँ ही लेखक या कलाकार के लिए कच्चा माल है। जिससे पक्का बनाकर वह नाटक, कहानी, उपन्यास, जीवनवृत्त, आत्मचरित्र, भ्रमण वृतान्त, और महाकाव्य आदि का कलेवर तैयार करता है और उसे सजाता है। "कथा का प्रधान लक्ष्य चरित्र चित्रण द्वारा मानव संवेदना को जाग्रत करता है। इस संवेदना को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए वह घटनाओं का सृजन करता है और संगीत की रीति की तरह आरोह-अवरोह की गति संचालित करता है क्लाइमेक्स पर पहुँचता और उतरता है।"[7]

प्रेमचंद के अनुसार - "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्रामात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"[8]

कथा साहित्य की महत्ता के विषय में मन्नू भंडारी का कथन- "किसी व्यक्ति के जीवन का विश्लेषण हम उसके चरित्र द्वारा ही कर सकते हैं। उपन्यास में चरित्र विश्लेषण के लिए अनेक पद्धतियों का आश्रय लिया जाता है। इन पद्धतियों के द्वारा ही चरित्रों के भावों को समझा जाए तो उपन्यास पढ़ने में आनंद की अनुभूति होती है और यही पात्रों की एवं उनके विशिष्टि चारित्रिक विश्लेषण की महत्ता है।"[9]

प्रेमचंद हमारी वह निधि है, जिसे लेकर हमारी कम से कम दो पीढ़ियाँ अब भी समृद्ध बन सकतीं हैं, उसके बाद में भले ही इतिहास की अमर शोभा मात्र बनकर रह जाएँ। प्रेमचंद का कथा साहित्य हिन्दी कथा साहित्य का स्थापना काल था, पूरी तरह से स्थापित युग नहीं। खोखले आदर्शों की चट्टान तोड़कर प्रेमचंद ने जीवन के यथार्थ का स्रोत बताया है।

श्री अमृत लाल नागर

प्रेमचंद हिन्दी के युग-प्रवर्तक कथाकार हैं। मुख्यतः उन्हें भारतीय ग्रामीण जीवन के अप्रतिम चितेरे के रूप में स्मरण किया जाता है। प्रेमचंद मुख्य रूप से ग्रामीण जीवन के कथाकार हैं। उनके साहित्य में ग्राम्य जीवन अपनी संपूर्णता में चित्रित हुआ है। डॉ. भैरव प्रसाद लिखते हैं - "उनकी यह मान्यता है कि भारत की आत्मा गाँवों में है। उनके युग में शहरी जीवन का विकास जिन रूपों में हो रहा था, उससे वे शंकित थे, वे ही क्यों, यह शंका गांधी जी को भी थी और प्रायः सभी संस्कृति-चेत्ताओं को भी थी। लेकिन उनमें और प्रेमचंद में एक बुनियादी फर्क था प्रेमचंद ने अपने समसामयिक ग्राम्य जीवन को कभी भी प्रभामंडित नहीं किया, बल्कि उसकी विषमताओं, हीन अवस्थाओं, दुखों, विपन्नताओं, सामंती प्रसारणाओं और महाजनों शोषणों को गहराई से देखा और अपने साहित्य में उनके वास्तविक रूप को चित्रित किया।"[10]

विषय वस्तु की दृष्टि से सेवासदन, निर्मला, गबन और गोदान जैसे उपन्यास भारतीय समाज का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं। प्रेमाश्रम, कायाकल्प, कर्मभूमि और रंगभूमि प्रेमचंद के ऐसे उपन्यास हैं जिनमें कौटुम्बिक एवं पारिवारिक समस्याओं के साथ सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन पर प्रकाश डाला गया है। विशेषतः कर्मभूमि और रंगभूमि जैसे उपन्यासों का मूल प्रतिपाद्य राजनीतिक जीवन पर आधारित है। प्रेमचंद के अंतिम एवं अधूरे उपन्यास मंगलसूत्र में मध्यमवर्गीय समाज की व्यथा प्रस्तुत की गई है।

सेवासदन

सेवासदन में समाज में व्याप्त वेश्याओं की समस्या को दिखाया है। जब चुनार गांव का भोला-भाला नवयुवक सदन अपने चाचा पद्मसिंह शर्मा के यहाँ बनारस आता है। बनारस की चकाचौंध और नगरीय सभ्यता से प्रभावित होकर सदन अपने व्यवहार में नगरीयपन का समावेश करता रहता है। कुछ ही दिनों में वह एक नवोदित वेश्या सुमन के प्रेमपाश में फँस जाता है, किन्तु सदन के हृदय पर लगी ग्रामीण संस्कारों की छाप उसे सुमन से विवाह बद्ध नहीं होने देती। वह सुमन को अपनी विलासिता और मनोरंजन का साधन मात्र समझता है। बनारस आकर वह अपने पैरों पर खड़ा होना चाहता है। और सुमन की बहन शांता से विवाह कर अपना घर बसाना चाहता है। सदन नाविक बन जाता कभी-कभी वह क्वींस पार्क में व्याख्यान सुनने चला जाता है। नगर के सम्पर्क में आते ही सदन के चरित्र और व्यक्तित्व में जो परिवर्तन हुए अब नगरीय संस्कृति में संबंद्ध परिणाम है। सेवासदन उपन्यास का दूसरा पक्ष पूर्णतः नगरीय जीवन से सम्बद्ध है। सुमन का ब्याह बनारस के बाबू गजाधर से होता है। उसकी निर्धनता और संशयी प्रवृत्ति तथा सुमन की विलासिता ने ही उसे वेश्या बनाने के लिए बाध्य किया। समाजसेवी बाबू विट्ठलदास और पद्मसिंह दोनों ही बनारस शहर के बीच में स्थित दालमंडी और वेश्याओं को नगर से बाहर कहीं दूर बसाने और वेश्याओं को पुनः समाज में प्रतिष्ठित कराने के लिए सेवासदन बुलवाते हैं। वस्तुतः सेवासदन का मूल प्रतिपाद्य वेश्या समस्या और उनका उन्मूलन ही है। उपन्यास के कथानक का केन्द्र बनारस नगर है। उपन्यास के नगरीय जीवन की ग्रामीण जीवन से इतनी अधिक घनिष्टता है नहीं कि कहा जा सके कि दोनों कथाएँ एक दूसरे की पूरक हैं।

प्रेमाश्रम

प्रेमाश्रम जमींदारी प्रथा और नौकरशाही के विरूद्ध एक जबरदस्त अपील है। इस उपन्यास में प्रेमचंद ने जीवन काल का विशाल चित्रपट सामने रखा है। सेवासदन में जहाँ उन्होंने नगरीय जीवन की समस्या का उल्लेख किया है, वहीं प्रेमाश्रम में उनका ध्यान भारतीय ग्रामीण जीवन की विषमताओं पर केन्द्रित हुआ है। इसमें किसानों की दुरावस्था, जमीदारों का अत्याचार, बड़े ताल्लुकदारों का विलासमय जीवन, नगर में वकीलों की बेरहमी मुंशियों, पटवारियों के काले-कारनामे पुलिस की ज्यादती, अदालतों में अन्याय

और अफसरों की धाँधली आदि का पर्दाफाश हुआ है। गायत्री अपने जमींदार पति की निर्दयता का उल्लेख करते हुए कहती है - ''उन्हें भी आसामियों पर सख्ती करनी पड़ती है। मैंने स्वयं उन्हें आसामियों की मुश्के कल के पिटवाते देखा है। जब कोई और उपाय न सूझता तो उनके घरों में आग लगवा देते थे।''[11]

इसी तरह नगरों में जनता का शोषण डॉक्टर, अधिकारी और वकील करते हैं शहर के नामी वकील डॉ. इरफान अली भी इसी शोषण वृत्ति में लिप्त हैं। उनकी फीस इतनी अधिक है कि साधारण व्यक्ति उनसे सलाह लेने की जुर्रत नहीं कर सकता। प्रेमचंद उनकी फीस का हवाला देते हुए कहते हैं ''उन्होंने ऑफिस में जाकर अपना मामला सुनाना शुरू किया। क्लर्क ने उनकी सब बातें नोट कर ली इसकी फीस पाँच रूपये हुई। डॉक्टर साहब की सम्मति के लिए दूसरे दिन बुलाया। उसकी फीस पाँच सौ रूपये थी। यदि उस सम्पत्ति पर शंकाये हो तो उसके समाधान के लिए प्रति घंटा दो सौ रूपये देने पड़ेगें।''[12] कहने का तात्पर्य यह है कि नगर और ग्राम में साथ-साथ निरीह जनता का शोषण हो रहा है।

''समाज व्यक्ति से बनता है और व्यक्ति को भूलकर हम किसी व्यवस्था पर विचार नहीं कर सकते।''[13] समाज से अलग व्यक्ति को पहचाना नहीं जा सकता। किसी भी पात्र के व्यक्तित्व का निर्माण उसकी पारिवारिक और सामाजिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में हो सकता है। पात्रों पर अपने समय की राजनैतिक, सामाजिक गतिविधियों का प्रभाव ही पड़ता है। समाज के बगैर व्यक्ति का अस्तित्व नहीं है, व्यक्ति के बिना समाज की कोई सत्ता नहीं है दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वह एकाकी जीवन-यापन नहीं कर सकता यदि ऐसा सम्भव हो पाता तो समाज निर्माण की आवश्यकता व्यक्ति को कभी महसूस नहीं होती। वह हिमालय की तराइयों में, समाज से दूर अकेला ही जीवन जी लेता। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक घनिष्ट संबंधों की व्याख्या करते हुए अज्ञेय ने भी 'नदी के द्वीप' कविता में इस विशाल विश्व की नदी में मानव रूपी द्वीप को अलग सत्ता को स्वीकार करते हुए भी समाज का अभिन्न अंग माना है। यह विशाल संसार या समाज एक समुद्र है जिसमें मानव का अस्तित्व एक द्वीप के समान है। जिस प्रकार समुद्र में स्थित द्वीप अलग दिखाई देते हुए भी उसी का एक अभिन्न अंग है -

हम है नदी के द्वीप .....
हम नदी के पुत्र है बैठे नदी के क्रोड में
वह बृहत् भूखण्ड से हम को मिलाती है।

- नदी के द्वीप 'अज्ञेय'

मानवीय व्यक्तित्व की सार्थकता समाज में होती है। समाज से पृथक होकर भी (अपने विशिष्ट रूप में) वह उससे जुड़ा है। मानवीय व्यक्तित्व की अपनी महत्ता है। किन्तु वह समाज से विलग होकर नहीं जुड़कर रहने से ही सार्थक हो पाता है।

प्रेमचंदोत्तर युगीन कहानी में सामाजिक यथार्थ

प्रेमचंदोत्तर युग में सामाजिक यथार्थ का चित्रण प्रायः सभी प्रतिनिधि कहानीकारों ने किया है। इनमें भगवतीचरण वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में आधुनिक युग में धर्मप्रधान सामाजिक मूल्यों के प्रति कटू व्यंग्य की भावना व्यक्त की है। उनका मन्तव्य है कि आधुनिक समाज में केवल अर्थप्रधान मूल्य ही प्रचलित है। यही कारण है कि समाज में कोई परम्परागत मर्यादा नहीं रह गयी है। मानवतावादी मूल्य के हास का भी यही कारण है। अर्थप्रधान मूल्य की मान्यता और उसके सामाजिक अभिशाप का चित्रण करते हुए 'रूपया तुम्हें खा गया' शीर्षक कहानी में उन्होंने लिखा है, "उफ ममता, प्रेम और सहानुभूति। इन्हें मैंने उसी दिन तिलांजलि दे दी थी, जिस दिन मैंने अमीर बनने की सोची थी। मुझे याद है ..... मेरे बच्चे मुझसे बात करने को तरस जाते थे और मैं रूपया पैदा करने में व्यस्त था। मैं लखपती बनना चाहता था करोड़पति बन रहा था और धीरे-धीरे वैभव के सर्वग्राही पिशाच नहीं, नहीं ..... लक्ष्मी ने मेरे घर में प्रवेश किया वे सब कमजोरियाँ जिन्हें लोग दया, त्याग, प्रेम, सहानुभूति के नाम से पुकारते थे। मेरे घर से निकल गयी। मेरी पत्नी, मेरे बच्चे, ... ये सब उतने ही कठोर बन गये जितना मैं था। सामर्थ्य और शक्ति के हम स्वामी हो गये, हम कर्त्ता हो गये।"[14]

इलाचंद जोशी ने अपनी कहानियों में आधुनिक महानारियों के जीवन का प्रभावशाली चित्रण करते हुए यह संकेत किया है कि उनमें समाज का एक ऐसा रूप देखने में आ रहा है जो रूढ़िवादी परम्पराओं के सर्वथा विपरीत है। इस समाज का यथार्थ मनुष्य का वह जीवन है जो आधुनिक यांत्रिक और औद्योगिक युगके द्वारा सर्वथा पद दलित लज्जाविहीन हो उठा उसमें किसी प्रकार की कोई प्रदर्शन एवं संकोच की भावना नहीं थी। वह समाज निर्धनता और अभावों से ग्रस्त है और शरीर की भूख और शमन के लिए आजीवन संघर्ष करता रहता है। 'मैं' शीर्षक कहानी में इसी का यथार्थ परक चित्रण है,।"कलकत्ता आये हुए मुझे पूरे अड़तालीस महीने हो गये। यह विपुल जल संघात के संघर्ष से जीवन संग्राम में निरन्तर इतने दिनों में पिसते रहने पर भी अकेला का अकेला ही हूँ। केला बागान की मुसलमान तथा हरिजनों की बस्ती की झोपड़ी के बीच एक मारवाड़ी भाई के भाड़े के मकान में एक कमरा मैंने लिया है। इसी बस्ती में मुसलमान मजूर, कुली, कबाड़ी, बीड़ी के दुकानदार तथा अन्याय प्रोलातेरियन तथा हरिजन श्रेणी के लोग रहा करते हैं। कानों में दिन-रात मुसलमान स्त्रियों की गाली गलौच, मियाँ भाइयों का नग्न अश्लीलता से भरा वार्तालाप, फेरी वालों के कर्कश कण्ठ का कर्मभेदी चीत्कार तथा इसी प्रकार के अन्यान्य शब्दों का झंकार मुखरित होता है। यहाँ नित्य दंगा फसाद चोरी डकैती और खून-खराबा हाहाकार मचा रहता है।"[15]

प्रेमचंदोत्तर युगीन कहानी से सामाजिक यथार्थ के चित्रण की दृष्टि से यशपाल का भी स्थान उल्लेखनीय है। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत भारतीय समाज में जहाँ एक ओर चतुर्मुखी विकासशीलता लक्षित होती है वहाँ दूसरी ओर एक विवशतापूर्ण स्थिति भी

है। आज के समाज में समानता के स्तर पर विभिन्न क्षेत्रों में योग्य व्यक्तियों के लिए विकास के पथ अवरूद्ध हैं। अंग्रेजी शासनकाल से ही पक्षपात पूर्ण जिस नीति की व्याप्ति समाज में हो गयी थी आज भी उसकी जड़ें उतनी ही गहरी जमी हुई हैं। दूसरा चित्रण 'कहानी में दृष्टव्य हैं।' एक संसार है जिसमें हम रहते है, यथार्थ संसार। यहाँ बेवसी की सीमाएँ है, कदम-कदम पर रूकावटें हैं, सुहावने फूल हैं, लुभावने अंगूरों के गुच्छे हैं, प्यास बुझाने को मोती उछालते झरने हैं, सब कुछ लेकिन मजबूरी की ऊँची दीवारें और असफलता के कांटेदार तारों की बाड़ी ने उन्हें घेर रखा है। दूसरा है काल्पनिक संसार, स्वप्न और आशा का। हाथ में कुछ भी न पाकर वहाँ आशा और कल्पना से ही मनुष्य सुखी हो जाता है। हमारे जीवन की सब साध और कोशिशें आशा और कल्पना की दुनिया के चित्रों को वास्तविकता की दुनिया के परदे पर उतारने के लिए होती हैं। इस प्रयत्न में जितनी सफलता हो जाए वही जीवन की सार्थकता और उद्‌देश्य है। परन्तु कितने है ऐसे भाग्यवान जो इस क्षेत्र में कोशिश करके कामयाब हो जाते है।''[16]

भारतीय समाज में एक बिडम्बनात्मक स्थिति यह दृष्टिगत होती है कि स्वार्थवश लोग अपनी अकर्मण्यता और दुर्दशा के लिए भाग्य को दोषी ठहराते हैं। जैनेन्द्र कुमार ने इस स्थिति का प्रभावशाली चित्रण 'अपना-अपना भाग्य' कहानी में प्रस्तुत किया है, उन्होंने यह संकेत किया है कि समाज के विभिन्न वर्गों में विशेष रूप से उच्च वर्ग में यह भावना इतनी अधिक व्याप्त हो गई है कि वह निम्न वर्ग के व्यक्तियों को पशु-तुल्य समझता है और उसके प्राणों का उसकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं रह गया है इस कहानी में यही वर्ग सशक्त रूप में उभरा है, ''दूसरे दिन नैनीताल स्वर्ग के किसी काले गुलाम पशु के दुलार का यह बेटा ..... वह बालक निश्चित समय पर हमारे होटल डिपव में नहीं आया हम अपने नैनीताल सैर खुशी-खुशी खतम कर चलने को हुए उस लड़के की आस लगाते बैठा रहने की जरूरत हमने न समझी।

मोटर में सवार होते ही थे कि यह समाचार मिला ..... पिछली रात एक पहाड़ी बालक, सड़क के किनारे, पेड़ के नीचे ठिठुर कर मर गया।

मरने के लिए उसे वही जगह, यही दस वर्ष की उम्र और वही काले चिथड़ों की कमीज मिली। आदमियों की दुनिया ने बस यही उपहार उसके पास छोड़ा था। पर बताने वालों ने बताया कि गरीब के मुँह पर, छाती, मुठ्ठियों और पैरों पर बर्फ की हल्की सी चादर चिपक गयी थी। मानो दुनिया की बेहयाई ढकने के लिए प्रकृति ने शव के लिए सफेद और ठंडे कफन का प्रबन्ध कर दिया था।

सबने सुना और सोचा .... अपना-अपना भाग्य।''[17]

प्रेमचंदोत्तर युग में 'अज्ञेय' ने अपनी कहानियों में सामाजिक यथार्थवाद का जो रूप प्रस्तुत किया है उसकी पृष्ठभूमि में आधुनिक समाज में बढ़ती हुई यांत्रिकता और औद्योगिकता के फलस्वरूप मानव जीवन में उपजने वाली कुण्ठाओं एवं असंतोष का चित्रण किया है। इस दृष्टि से यहाँ पर 'अज्ञेय' की लिखी हुई 'अमर वल्लरी' शीर्षक

कहानी का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें उन्होंने कथा नायक के अध्ययनशील हृदय में गहरी समा गई असंतोष और अशांति की भावना का प्रभावशाली चित्रण किया है, "उसी समय मेरे हृदय में भाव उठता है कि यह दुखड़ा रोने का कोई अधिकार नहीं है। मैंने जीवन में सब कुछ नहीं पाया। बहुत अनुभूतियों से मैं वंचित रह गया पर जीवन की सार्थकता के लिए जो कुछ पाया है वह पर्याप्त है। न जाने कितनी बार मैंने बसंत की हंसी देखी है, पक्षियों का कलरव सुना है न जाने मैंने कितनी बार मानवों की पूजा पायी है, न जाने कितनी सरलताओं की श्रद्धापूर्ण अंजलि प्राप्त की है और उन सबसे अधिक न जाने कितनी बार मुझे इस अमर वल्ली के स्पर्श में एक साथ ही बसन्त के उल्लास का, ग्रीष्म के ताप का, पावस की सरलता का, शरद की स्निग्धता का, हेमन्त की सुभ्रता का और शैतल्य का अनुभव हुआ है न जाने कितनी बार उसके बन्धनों में बँधकर और पीड़ित होकर मुझे अपने स्वातंत्र्य का ज्ञान हुआ है। एक व्यथा, एक जलन मेरे अन्तस्थल में रमती गयी है कि मैं मूक ही रह गया, मेरी प्रार्थना अव्यक्त ही रह गयी पर मुझे इस ध्यान में सांत्वना मिलती है कि मैं ही नहीं, सारा संसार मूक है ..... जब मुझे अपनी विवशता का ध्यान होता है, तो मैं मानव की विवशता देखता हूँ, जब भावना होती है कि विश्वकर्मा ने मेरी प्रार्थना की अपेक्षा कर मेरे प्रति अन्याय किया है तब मुझे याद आ जाता है कि मैं स्वयं भी इस सहिष्णु पृथ्वी की मूक प्रार्थना का दूसरी अभिव्यक्ति ..... चेष्ठा का नीरव स्फुटन ही हूँ।"[18]

वाचस्पति पाठक ने आधुनिक समाज की एक ज्वलन्त यथार्थता बेरोजगारी की समस्या के अनेक पक्षों पर विचार किया है। अपनी लिखी हुई 'यात्रा' कहानी में दो नवयुवकों की चरित्रों की पृष्टभूमि में उन्होंने यह संकेत किया है कि बेकारी की समस्या न केवल समाज के लिए वरन् नवयुवकों की बुद्धि को भी कुंठित कर देता है। उदाहणार्थ "हम दोनों भूले हुए बटोही की तरह आज मिलकर एक दूसरे दुख-सुख को भीतर ही भीतर जान लेना चाहते थे। पूछ-पूछकर उसका इतिहास तैयार करना हमारे संकोची हृदय को सहन न था। केदार ने थोड़े में पहले ही पूछ लिया ..... मजे में तो कट रही है? मैंने उत्साह से कहा ..... हाँ जी खूब। पर एक लज्जा से जैसे मेरा मन सिहर उठा। मेरा मित्र इस पर कहाँ तक विश्वास करेगा। जीवन भर दूसरों की कार्यकुशलता पर जीने वाला मैं ..... मुझको यह नहीं जानता। फिर अपने सुख का सुखी यह मनुष्य मेरे सुख को जितना तुच्छ समझता होगा। एक दिन आपस में तर्क में जिसने नौकरी की निंदा करके कहा ..... मैं सच कहता हूँ नौकरी अभिशाप है। जीवन को इससे दूर रखना सबका कर्तव्य है और जब मैं इसे आज समझता हूँ तो मैं कल से नौकरी नहीं करूँगा ...... वह मेरे जैसी समझ वालों की दृष्टि में अपने सम्पूर्ण भविष्य को एक फूँक में धूल की तरह उड़ाकर इस पहाड़ी देश में लौट आया .....।"[19]

प्रेमचंदोत्तर काल के अनेक कहानीकारों ने द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि में समाज में युद्ध के प्रभाव का भी विस्तार से चित्रण किया है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने अपनी लिखी 'कबूतर' शीर्षक कहानी में कथानायक के माध्यम से युद्ध के सामाजिक पक्ष का

परिचायक है, "हाँ मैंने नरक देखा है। वह भी थोड़ समय के लिए नहीं, पूरे सत्ताइस दिनों के लिए ..... चार सप्ताह से एक दिन कम। एक बियावान चट्टानीं प्रदेश से हम लोग शत्रु से अचानक घिर गये थे। मैं अपनी टुकड़ी का असिस्टेंट कमाँडर था। शत्रु से मोर्चा लेते हम लोग सफलतापूर्वक आगे बढ़ रहे थे। बड़ी-बड़ी चट्टानों, टेड़े-मेड़े नालों और पहाड़ी खंडों की बदौलत इस सुनसान इलाके में बड़े टैंकों को ले जाना संभव नहीं था। ऊपर हमारे हवाई जहाज थे और नीचे ब्रेन गने हाथ लिए हमारे सिपाही। वह भी हम लोग सफलतापूर्वक आगे बढ़ रहे थे।"[20]

प्रेमचंदोत्तर युग में राजनैतिक परिस्थितियों में जो परिवर्तनशीलता आयी उसने देश की सामाजिक दशा पर भी उल्लेखनीय प्रभाव डाला। मन्मथनाथ गुप्त की अनेक कहानियों में सामाजिक चित्रण के संबंध में यह संकेत किया गया है कि राजनैतिक अस्थिरता से इस युग में सामाजिक दृष्टिकोण में व्यापक रूप से परिवर्तन हो गया और जहाँ एक ओर जनता में सामाजिक चेतना का जागरण हुआ वहाँ दूसरी ओर व्यापारों और पूँजीपति वर्गों में शोषण की प्रवृत्ति का भी विकास हुआ। 'राजनीति' शीर्षक कहानी में गुप्त जी ने इसी सत्य का चित्रण किया है, "इससे मैं एकाएक काँग्रेस और सरकार के बीच समझौते की बातचीत शुरू हुई। कई बार बातचीत खत्म हुई तो खुश हुए। पर फिर शुरू हुई। ऐसा मालूम होता था कि कुछ होकर रहेगा। सेठ रमानाथ बहुत घबराये, क्योंकि पंडित जवाहर लाल नेहरू ने अब की बार छूटते ही कहा था, चोर बाजारियों को फाँसी दे देनी चाहिए। यद्यपि सेठ रमानाथ अपनी समझ में चोर बाजारी नहीं थे पर वे डरते थे कि कहीं गेहूँ के साथ घुन न पिस जाए। फिर इन कांग्रेसियों का क्या ठिकाना? ये लोग जब देखो, तब किसान, मजदूर राज्य की बात करते थे। यह बात उन्हें बहुत बुरी लगती थी, बहुत ही बुरी। वे डरते थे, कि पसीने की गाढ़ी कमाई से कहीं हाथ न धोना पड़े।"[21]

इन लेखकों के अलावा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की रचनाओं में भी समाज का प्रभावशाली चित्रण हुआ। इस दृष्टि से उनकी लिखी हुई 'सपने', 'चट्टान', 'अंकुर', 'पहेली', 'निशानियां' तथा 'जुदाई की शाम का गीत' आदि उल्लेखनीय हैं। इनकी एक विशेषता यह भी है कि इसमें लेखक ने अपने दृष्टिकोण को अति यथार्थ होने से बचा लिया है और अनेक स्थलों पर प्रतीकात्मक चित्रण किया है। 'अमर खोज', 'माया', 'तार बाबू', 'निशानियाँ' तथा 'नासूर' जैसी कहानियों में 'अश्क' ने सामाजिक कुरीतियों और विकृतियों का चित्रण किया है। 'पिंजरा, 'पाषाण', 'मोती' तथा 'खिलौने' आदि कहानियों में नारी समाज की विभिन्न समस्याओं का चित्रण हुआ हैं इस युग के अन्य लेखकों ने भी आधुनिक समाज में व्याप्त धन-लोलुपता, नारी-शिक्षा, पारिवारिक-विश्रृंखलता, नैतिक-ह्रास, धार्मिक कुरीतियों तथा समस्याओं से संबंधित रचनाएँ प्रस्तुत की हैं जो समकालीन सामाजिक जीवन का चित्र पाठक के सामने प्रस्तुत करतीं हैं।

कथा साहित्य और समाज

राजेन्द्र यादव का नाम स्वातंत्र्योत्तर युग के उपन्यासकारों में विशेष रूप से उल्लेखीनय है। समकालीन जीवन की वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण इनकी कथा कृतियों की प्रमुख विशेषता है। व्यक्तिगत कुंठाओं तथा मानसिक विकृतियों की प्रतिक्रियात्मक संभावनाएँ इनकी रचनाओं में प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त हुई है।

'सारा आकाश' (जो प्रेत बोलते हैं, शीर्षक उपन्यास का ही संशोधित रूप है) में निम्न मध्यवर्ग के संयुक्त परिवार की वेदना की सफल अभिव्यक्ति हुई है। रूढ़ियों, सामाजिक विषमताओं और शोषण के बीच कैसे जीवन की सफलता और महत्वाकांक्षाओं के सपने धूल-धूसरित हो जाते हैं। उपन्यास के नायक समर के माध्यम से इसी निराशावादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया है। समर का मानसिक अन्तर्द्वद उसका स्वाभिमान व अहंकार उसे गृहस्थ सुख से वंचित कर देता है। प्रभा के साथ जबरन विवाह का दुष्परिणाम यह हुआ कि समर आजीवन, निराशा, घुटन व पलायन का शिकार रहा। विवाह होने पर वह इन सभी झंझटों से दूर भागना चाहता है। "भारतीय संस्कृति का मोह, अतीत का मोह, प्रेत बनकर उसकी मानवीय चेतना को कुंठित कर उसे जड़ बना देता है।"[22] समर आत्म स्वाभिमान से ग्रस्त एक 'अपरिपक्व' पुरूष है जो पत्नी प्रभा से विमुख हो जाता है। बड़ी भाभी से प्रेरित समर निर्दोष प्रभा से कहकर दूर होता चला जाता है।

"वास्तविक जीवन में तो वे लोग नौ साल इसी तरह रहे, आपस में बिल्कुल नहीं बोले।"[23]

एक मध्यम वर्गीय परिवार में नारी के ऊपर केवल शासन किया जाता है। अपनी वेदना को सहन करते हुए जीवन भर ससुराल के अनेक सदस्यों के द्वारा प्रताड़ित और तिरस्कृत होती हुई भी चुप रहती है। पत्नीत्व के अधिकार से वंचित, पति के सम्मुख लांछित होती हुई व्यंग्य बाणों से छलनी कर दी जाती है, किन्तु उसका विरोध नहीं करती। 'सारा आकाश' की ट्रेजिडी किसी सत् समय या व्यक्ति विशेष की ट्रेजिडी नहीं, खुद चुनाव न कर सकने की, दो अपरिचित व्यक्तियों को एक स्थिति में झोंककर भाग्य को सराहने या कोसने की ट्रेजिडी है। संयुक्त परिवार में जब तक यह चुनाव नहीं है लड़के-लड़कियाँ एकान्त आसमान को गवाह बनाकर अपने आप से लड़ते रहेगे।"[24]

प्रभा त्याग की मूर्ति है, सुशिक्षित है किन्तु अधिक दहेज न ला पाने के कारण सुशील एवं सुन्दर होने पर भी परिवार के लिए महत्वहीन है। भारतीय परम्परा और रूढ़िवादी सामाजिक परिप्रेक्ष्य में दहेज की समस्या, पुनर्विवाह प्रणाली को भी जन्म दे सकती है। इसका अति यथार्थ 'सारा आकाश' में है।

सास, जिठानी और समर के व्यवहार से त्रस्त प्रभा अपनी माँ के पास चली जाती है। निराशा में डूब समर पारिवारिक वातावरण में स्वयं को तिरस्कृत और अपमानित

महसूस करता है, उद्देश्यहीनता और बेकारी से घिरा अंतर्द्वंद का शिकार हो जाता है। प्रभा के वापिस लौटने पर समर दाम्पत्य जीवन के सुखपूर्ण सुनहले स्वप्न को देखता है, मित्र दिवाकर और शिरीष के सम्पर्क से वह अपनी और प्रभा की स्थिति को बदले हुए दृष्टिकोण से देखता है, किन्तु परिवार के सदस्यों के भय से प्रभा के सम्पर्क में आने से कतराता है। उल्लास की उष्णता उत्पन्न होने पर भी वह अपने आप को नियंत्रित कर लेती है संस्कारों और मर्यादाओं से आबद्ध समर की एक ही धुन पर। (प्रभा से बात न करने की) पूरी कथा केन्द्रित हो गयी है। "इसमें एक शिक्षित मध्यमवर्गीय जीवन की घुटनशील परिस्थितियों से उत्पन्न वितृष्णा का ही चित्रण करना लेखक की अभीष्ट नहीं रहा है। बल्कि वह एक नये श्रेयस्कर सामाजिक जीवन की कल्पना भी करता है।"[25]

'सारा आकाश' का समर आर्थिक संघर्षों से घिरा, पारिवारिक कलहों में डूबा हुआ एक अविकसित पात्र है जो केवल आत्मद्वंद की गुत्थियों को सुलझाने में जीवन भर लगा रहता है। किन्तु सफल नहीं हो पाता है। समर का पत्नी के प्रति किया गया व्यवहार अत्यन्त अस्वाभाविक एवं अविश्वसनीय है। यद्यपि कथाकार उसे यथार्थ की भूमि से उत्पन्न अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति स्वीकार करता है। पूरे उपन्यास में प्रभा सहानुभूति की पात्र रही है। समर के लिए संयुक्त परिवार में अध्ययन की समस्या, समझौते का प्रश्न, पारिवारिक उत्तरदायित्व, आर्थिक अभाव, प्रभा से विरक्ति, माता-पिता के सामने दब्बूपन आदि कुछ ऐसी समस्याएँ है। जिनसे वह पूरे जीवन भर सामना करते हुए अन्त में आत्महत्या का विचार ही मन में लाता है और अपने आप से भागता है। "यह उपन्यास पुरानी मान्यताओं एवं रूढ़ियों और संस्कारों के प्रति एक प्रश्नचिन्ह, एक चुनौती प्रस्तुत करता है। सम्मिलित कुटुम्ब की सबलता, दुर्बलता को सामने रखकर उसके वर्तमान रूप पर प्रश्नचिन्ह लगा देता है। और बदलते हुए परिप्रेक्ष्य से उसकी नवीन व्याख्या करता है।"[26]

'एक इंच मुस्कान' राजेन्द्र यादव एवं मन्नू भंडारी के सहयोगी उपन्यास लेखन का सशक्त एवं सफल प्रयोग है जिसमें राजेन्द्र यादव द्वारा पुरूष पात्र और मन्नू भंडारी के द्वारा पात्रों की संचरण भूमि का यथार्थ अंकन है।

मनोविश्लेषणवाद की पृष्ठभूमि पर यह उपन्यास पात्रों के अंतर्द्वन्द की सफल अभिव्यक्ति करता है साधारणतः इसमें रंजना, अमर, अमला के परम्परागत त्रिकोणात्मक प्रेम की कथा ही दोहरायी गई है। किन्तु एक नारी (रंजना) की मानसिक गुत्थियों को ईमानदारी से प्रस्तुत करने में अतिरंजना का सहारा लिया गया है।

रंजना उन्मुक्त प्रेयसी व पत्नी के रूप में अतृप्त दिखाई देती है। नारी सुलभ ईर्ष्या या द्वेष उसे अमर के प्रति कर्तव्य निर्वाह से च्युत कर देता है। नारी अपने जीवन में दुख, वेदना और अभाव तो सहन कर सकती है पर पति का पर स्त्री से प्रेम संबंध अथवा मेलजोल स्वीकार करना उसके वश में नहीं है। रंजना इसी की शिकार है यदि वह अमर-अमला की मैत्री स्वीकार कर लेती तो उसकी सम्पूर्ण मानसिक उलझनों

का समाधान हो जाता किन्तु वह घुट-घुटकर अपने और अमर के प्रति प्रेम-समर्पण व त्याग के बदले में उसे केवल एक तनाव से भरी जिंदगी मिली। वह शारीरिक और मानसिक अतृप्ति से ग्रस्त रही। रंजना के शब्दों में उसकी पीड़ा को आत्मसात किया जा सकता है, ''एक बात पूछे अमर? तुम्हारी पत्नी बनकर आखिर मैंने ऐसा कौन सा अपराध कर दिया कि मेरे प्रति तुम्हारा सारा प्यार सूख गया?''[27]

अमर की अमला से मित्रता को रंजना सहन नहीं कर पाई है। कहीं वह पाठकों की करूणा और सहानुभूति का पात्र रहीं है और कहीं उसके अपरिपक्व व्यवहार के कारण खीझ भी उत्पन्न होती है। रंजना की आंतरिक पीड़ा उसे आत्महत्या की ओर प्रेरित करती है। वह चीत्कार उठती है-''मुझे मार डालो, नहीं तो खुद मर जाऊँगी इस तरह मुझसे जिया नहीं जाता।''[28] साधारण नारी की तरह रंजना भी पत्नीत्व का अधिकार चाहती है किन्तु उसकी आंतरिक पीड़ा अस्वाभाविक नहीं है। घुटती-मरती रंजना का संत्रास मातृत्व-विहीन नारी की पीड़ा का मार्मिक चित्रण, नारी मनोविज्ञान के आधार पर इस उपन्यास में किया गया है।

'अमर' एक निर्विकार तटस्थ पुरूष है जो रंजना से विवाह करके न तो उसके प्रति पूर्णतः समर्पित हो पाया है न रंजना ही उसके साथ रहकर पत्नीत्व के अधिकारों की पूर्णता प्राप्त कर सकी है। नारी और पुरूष के जीवन में तनाव किसी तीसरे के बीच में आने से उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। चाहे वह पुरूष हो अथवा नारी। अमर और रंजना का मनमुटाव भी अमला को लेकर ही उत्पन्न होता है। अमर ने रंजना को शादी के बाद क्या दिया? न धन, न प्यार, न सुख, न साह्चर्य और न विश्वास। फिर एक पत्नी की महत्वाकांक्षा पूर्ण हो तो कैसे? अमर रंजना से प्रेम करता है ऐसा उसका दावा है। किन्तु वह विवश है उसके मन में व्यक्ति और कलाकार का द्वंद्व है। ''जानती हो रंजना हर प्रकार का समझौता कला को पथभ्रष्ट करता है।'' दो सही व्यक्ति एक गलत जगह जाकर मिल गये है।''[29] रंजना को आश्चर्य था कि अमला की मुस्कान में ऐसा क्या जादू था? जिसने प्रेयसी-पत्नी रंजना के प्रति अमर को कर्तव्य से विमुख कर दिया। सम्पूर्ण उपन्यास में यह अस्पष्ट है कि अमर रंजना के प्रेम बन्धन में बंध क्यों नहीं सका? पत्नी के प्रति प्रेम निर्वाह उसे बोझ क्यों लगने लगा? ''मैं बहुत छोटा हूँ, बहुत नीच हूँ-बहुत स्वार्थी हूँ .... यही भावना मुझे पल-पल सालती है। तिल-तिल समर्पित होता तुम्हारा यह व्यक्तित्व तुम्हारा यह एकांतिक प्यार मुझे मत दो रंजना ..... बस और कुछ नहीं चाहता।''[30]

''एक इंच मुस्कान'' में अमर अमला की मुस्कान से ही प्रभावित है जो रात-दिन उसे आक्रांत किये रहती है। उसके प्रभाव के जादू से बँधा अमर अपना सब कुछ खो देता है। इस शीर्षक में 'एक इंच' से यह भी ज्ञात होता है (आभास होता है) कि अमला की मुस्कान बँधी हुई और यांत्रिक है। यों भी अमला की मुस्कराहट का जादू पूरे उपन्यास पर छाया हुआ है।

उपन्यास यादव के लिए मनोरंजन का उपकरण या हल्की-फुल्की विधा न होकर एक गम्भीर माध्यम है, वे उपन्यास को रचनाकार के आत्म-संघर्ष से जुड़ा मानते हैं। ''उपन्यास एक ऐसा जंगल है जहाँ लेखक अपने आपको फेंक देता है और खोकर अपना रास्ता निकालता है।''[31] यह रास्ता अंतर्मुखी नहीं है। यह निजी अनुभवों के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक परिवर्तनों से संबद्ध हुआ है।

सामाजिक परिवेश

स्वतंत्रता आंदोलन एवं आजादी के बाद न केवल राजनीति अपितु समाज भी क्षत्-विक्षत् हो उठा सम्पूर्ण समाज अनेक विसंगतियों का शिकार बन गया। धनाभाव, आर्थिक संकट, बेरोजगारी, अनमेल विवाह, भ्रष्टाचार, रिश्वत, आदि अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई। वर्गभेद, वर्णभेद, ऊँच-नीच की भावना को प्रोत्साहन मिलने लगा समाज के प्रति मानव मन में विद्रोह का बीजारोपण हुआ। मानव अपनी वैयक्तिक आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ था।

समाज में रूढ़ियों और संस्थाओं में संघर्ष बढ़े किन्तु रूढ़ि व संस्थागत संघर्षों एवं व्यक्तिवादिता ने समस्त समाज को छोटी-छोटी इकाइयों में बाँट दिया। सामाजिक नियंत्रण क्षीण हो गया जिसके फलस्वरूप व्यक्ति में ''निराशा, कुण्ठा, असुरक्षा, असंतोष, मृत्युभय, मानसिक तनाव, अविश्वास एवं दायित्वहीनता जैसी विघटन कारी प्रवृत्तियों ने व्यक्ति को समाज से ही नहीं अपितु अपने आप से अलग कर दिया।''[32] नई पीढ़ी ने परम्परागत मूल्यों का केवल विरोध ही नहीं किया अपितु उन्हें व्यर्थ घोषित किया।

स्वतंत्रता के बाद संयुक्त परिवारों का विघटन प्रारंभ हुआ। संयुक्त परिवार सदस्यों का पारस्परिक मनमुटाव, ईर्ष्या-द्वेष, अर्थाभाव किसी को एक पल के लिए मानसिक और शारीरिक सुख प्रदान करने में समर्थ न हो सका। इस प्रकार परिवार टूटने लगे।

समाज में शिक्षा का प्रसार होने से नारी की सामाजिक स्थिति में विशेष परिवर्तन हुए। नारी जो अब तक पुरूष की दासता में पालित-पोषित थी अब स्वतंत्र अस्तित्व की माँग करने लगी।

स्त्री शिक्षा को भी बढ़ावा दिया। नारी पुरूष के बाह्य कार्य-क्षेत्र में जीविकोपार्जन का उत्तरदायित्व वहन करने लगी। बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, अनमेल-विवाह का विरोध हुआ। विधवा-विवाह, तलाक का समर्थन होने लगा। समाज में जहाँ एक ओर नारी स्वतंत्रता पर बल दिया गया वहीं दूसरी ओर रूढ़िवादी संस्कारों के अधीन कुछ लोग नारी विकास के विरोध में भी थे।

पुरूष पर निर्भर घरेलू नारी हीन-भावना से ग्रसित होने लगी। क्योंकि वह आत्मनिर्भर नहीं थी वह इस संकट से मुक्ति चाहती है। सुशिक्षित नारी स्वतंत्रता चाहती है। नैतिकता के बंधन अब वह स्वीकार करने को तैयार नहीं। किन्तु नारी जीवन के इन बदलते हुए मूल्यों से समाज का उत्थान ही हुआ।

"स्वतंत्रता के बाद समाज में सत्य, अहिंसा, मानवता, नैतिकता, मर्यादा, सादगी, शान्ति और संतोष जैसे सांस्कृतिक मूल्यों की परिभाषाओं में भी अंतर आया है।"[33] नयी पीढ़ी के लिए यह शब्द मात्र धोखा है। स्वातंत्र्योत्तर समाज में धर्म के नाम पर अंधविश्वास, रूढ़ियाँ, आडम्बर प्रचलित रहे हैं। धर्म, पाखण्ड, स्वार्थसिद्धि, अनैतिकता और सामाजिक विघटन हेतु रह गया है। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव भी समाज पर पड़ा जिससे भारतीय प्राचीन मूल्यों में परिवर्तन होने लगे। धार्मिक रूढ़ियाँ हटने लगी।

आर्थिक परिवेश

स्वतंत्रता के पश्चात् देश की आर्थिक स्थिति में सुधार एवं उन्नति की सम्भावना थी। किन्तु देश की आर्थिक हानि हो जाने के कारण स्थिति बिगड़ गयी। देश की सम्पत्ति विदेशियों द्वारा हड़प ली गयी।

देश के उद्योग धंधे नष्ट हो गये। किसानों का शोषण प्रारंभ हो गया। यद्यपि सरकार आर्थिक असमानता की समाप्ति के लिए प्रयासरत थी। 1981 में पंचवर्षीय योजनाएँ लागू की गई। जिसका उद्देश्य कृषि उत्पादन धन का समान वितरण। नये कार्यक्षेत्र की प्रतिस्थापना करके आर्थिक उन्नति करने, दरिद्रता हटाने और बेकारी को दूर करने का था। योजनाएँ सफल नहीं हुई। इससे कुछ अंश तक पूँजीपति वर्ग भले ही लाभान्वित हुआ हो जन सामान्य के स्तर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इन योजनाओं से धन, समय और शक्ति का ह्रास हुआ। "इसके अतिरिक्त कृषि योग्य अधिकांश भूमि पर जमीदारों का कब्जा है। विदेशी पूँजी ने भी तेजी से हमारी अर्थव्यवस्था को जकड़ लिया है। आज जनता महँगाई, बेकारी, अभाव, गरीबी और भुखमरी की आग में जल रही है।"[34]

जनसंख्या की वृद्धि के कारण खाद्य समस्या भी देश में भयानक रूप धारण कर चुकी थी। बेकारी को दूर करने के कोई भी उपाय सरकार के द्वारा निर्मित प्रथम योजना में नहीं थे परिणामतः निम्न मध्यवर्ग पर इसका प्रतिकूल असर हुआ। शिक्षा का प्रसार तो बहुत हुआ किन्तु उनके अनुकूल रोजगार जुटाये नहीं जा सके। परिणामतः शिक्षित नवयुवकों के उपार्जन की समस्या ने भीषण रूप धारण कर लिया। मूल्य वृद्धि से आर्थिक संकट बढ़ता ही रहा। स्वतंत्रता के बाद देश की अर्थव्यवस्था असफल हो गई। आम आदमी पर इसका गंभीर प्रभाव हुआ।

राजनैतिक परिवेश

स्वतंत्रता आंदोलन के पश्चात् तत्कालीन राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक स्थिति में विशेष परिवर्तन हुए। आजादी के बाद ब्रिटिश सरकार की कूटनीति के परिणाम स्वरूप देश दो भागों में विभक्त हो गया। महात्मा गांधी जी को कुछ लोगों ने इस विभाजन का कारण माना। देश में विद्रोह प्रारंभ हो गया। गांधी जी की हत्या के बाद 26 जनवरी, 1950 को जनता ने अपना संविधान अंगीकृत किया। भारत में लोकतंत्र का राज्य प्रति स्थापित

हुआ। जनसाधारण को मताधिकार, न्याय, मत प्रकाशन और मत प्रकट करने की स्वतंत्रता दे दी गई। डॉ. रघुवंश के मतानुसार "इन विभिन्न स्वतंत्रताओं के बीच व्यक्ति की आंतरिक स्वतंत्रता की माँग खो गई।"[35]

सन् 1952 में आम चुनावों की घोषणा की गई। कांग्रेस दल की विजय हुई भारत ने समाजवादी व्यवस्था को स्वीकार किया। देश के कर्णधार नेताओं की पारस्परिक फूट एवं स्वार्थ की नीतियों ने राजनीति में तहलका मचा दिया, वर्गभेद, वर्णभेद, ऊँच-नीच की भावना को प्रोत्साहन मिलने लगा। पूँजीपतियों द्वारा निम्नवर्ग का शोषण भी कम नहीं हुआ। देश में प्रजातंत्र के बाबजूद निम्न जनता का रक्तपात होता ही रहा, साम्राज्यवादी और सामंतवादी प्रवत्तियाँ बाह्य रूप से भले ही अस्तित्वहीन हो गई किन्तु भीतर ही भीतर पनपती रही। सुशिक्षित एवं संभ्रांत वर्ग में भी अनादर्श और अनाचार फैलने लगा।

सन् 1962 में आंतरिक अव्यवस्था को देखते हुए चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया। प्रधानमंत्री नेहरू के समय में ही इस युद्ध में मिलने वाली गहरी पराजय से जनता में असुरक्षा की भावना पनपने लगी। अचानक पंडित नेहरू की मृत्यु से देश में समस्या उत्पन्न हो गई। श्री लाल बहादुर शास्त्री के प्रधानमंत्री पद पर आसीन होने के अठारह महीने के अंतराल में कई राजनैतिक उलट-फेर हुए। 19 जनवरी, 1966 को श्रीमती इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री नियुक्त हुईं। 1967 में आम चुनावों में कांग्रेस दल की नींव हिल गई उसमें दो दल हो गए। एक दल समाजवाद के नाम पर प्रचलित पुरानी नीतियों से चिपका रहा। दूसरा दल युवा कांग्रेसियों का था जो प्रगतिशील समाजवाद के संमर्थक थे।

श्रीमती गांधी ने इसी दूसरे दल का नेतृत्व किया। इसके बाद सन् 1970 तक सारे देश में भ्रष्टाचार, गरीबी, भुखमरी का साम्राज्य हो गया।

जून, 1975 में आपातकाल की घोषणा के बाद अनेक राजनैतिक व सामाजिक परिवर्तन देश में हुए किन्तु ये परिवर्तन सत्ता के बल पर लाने की कोशिश मात्र थे इससे देश की व्यवस्था में जो भी सुधार हुआ वह अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह पाया। आपातकालीन स्थिति के लागू होने पर सारे दशे में जबरदस्ती विशिष्ट व्यवस्था लाने का प्रयास किया गया। किन्तु सारा देश समाज और राजनीति अपने मूल में इतने भ्रष्ट और विभिन्न विषमताओं से आक्रांत हो चुके थे, कि उनमें व्यवस्था लाने की कोशिश अधिक सफल हो नहीं पाई। समाज और राजनीति के हर क्षेत्र में दबाव डालकर जो व्यवस्था लाई गई उससे जनता सरकार द्वारा अपने आपको शोषित समझने लगी। आपातकाल द्वारा सत्ताधारी वर्ग की दमन की नीति ही प्रकट हुई जिसका खुलकर विरोध न सही भीतर ही भीतर जनता द्वारा होता रहा।

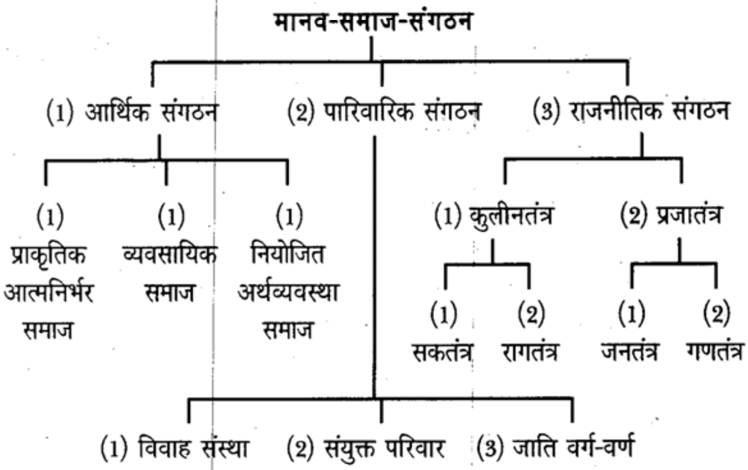
तत्कालीन परिवेश

किसी भी रचना के जन्म में कलाकार के वातावरण का अभिन्न योगदान रहता है। लेखक जिस वातावरण में रहता है उसके प्रभाव के परिणाम स्वरूप ही अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में रचना जन्म लेती है। साहित्य समाज का प्रतिबिंब

माना गया है इसके लिए अनिवार्य है कि समाज में जो कुछ घटित हो रहा है उसका चित्रण साहित्य में किया जाए। कथाकार संवेदनशील होता है। जो परिवेश और उसके अन्तर्बाह्य विरोधों को आत्मसात करता है।

अन्त में स्वतंत्रता के बाद राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक ढाँचा चरमराने लगा है। देश अपनी समस्याओं को हल करने में सक्षम नहीं हुआ। युवा पीढ़ी की स्थिति को बदलने का जिम्मा उठाया होगा।

'समाज के अंतर्गत व्यक्ति, परिवार, समूह, राज्य विश्व और सृष्टि के पारस्परिक संबंधों की विवेचना होती है, अतः इनसे संबंधित सामाजिक विज्ञानों और सामाजिक शास्त्रों का जन्म हुआ है, जिनमें मानव के परस्पर सम्पर्क, संसर्ग और साहचर्य के सम्बन्धों का विविध दृष्टिकोण से अध्ययन किया गया है। इन सब शास्त्रों के अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु मानव और उसके क्रियाकलाप हैं। मानव के क्रियाकलाप तीन मार्गों में विभक्त हैं - प्रथम, वे क्रियाएँ जो मनुष्य के जीवन-निर्वाह और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है। दूसरे वे जो मानव जाति की परम्पराओं को बनाये रखने के लिए आवश्यक है-प्रजनन, विवाह और परिवार से संबंधित बातें। तीसरे, वे क्रियाएँ जिनके द्वारा मनुष्य अपने पारस्परिक संबंधों को नियंत्रित करता है क्षेत्र विशेष के भीतर शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था करता है और विभिन्न भू-भागों के पारस्परिक संबंधों को बनाये रखता है। इन्हीं क्रियाकलापों के आधार पर मानव समाज के मुख्यतः तीन संगठन नियोजित हुए जिन्हें क्रमशः आर्थिक, पारिवारिक और सामाजिक संगठनों की संज्ञा दी जाती है।''[36] आज इनका अध्ययन क्रमशः अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के माध्यम से इस प्रकार किया जाता है :-



मानव केवल सामाजिक प्राणी ही नहीं वरन् बौद्धिक प्राणी भी है, अतः उसके संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए बौद्धिक जीवन के विभिन्न अंगों का अध्ययन भी आवश्यक है। जिनमें विज्ञान, दर्शन, कला आदि सम्मलित हैं। समाज-दर्शन व्यक्ति को समग्रता में देखने का आग्रह करता है अतः उसकी परिसीमा के अंतर्गत वे सभी मानसिक और सांस्कृतिक विज्ञान सम्मलित हैं जो समाज में व्यक्ति की गतिविधियों का आकलन करते हैं। (1) वे मुख्यतः मानवीय व्यवहारों और गतिविधियों से संबंद्ध रहते हैं और अपनी-अपनी दृष्टि से मानव का आंशिक अध्ययन करते है। मानव जाति के उद्भव, उनके विविध प्रकारों, नियमों, प्रथाओं, संस्थाओं, भाषाओं, विश्वासों, जीवन पद्धतियों, भावनाओं एवं क्रियाकलापों का अध्ययन समाज-विज्ञान की विविध शाखाओं में विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता है। ''राजनीति शास्त्र मनुष्य के व्यवहारों का अध्ययन राज्य और राजनीतिक संगठनों की दृष्टि से, अर्थशास्त्र पूँजी या सम्पत्ति की दृष्टि से, इतिहास भूतकालीन घटनाओं की दृष्टि से, नीतिशास्त्र नीति-रीति-आचरण की दृष्टि से, न्याय शास्त्र विविध-विधान की दृष्टि, भाषाशास्त्र वाणी और अर्थ की दृष्टि से, मानव भूगोल प्रकृति की अन्तः क्रियाओं की दृष्टि से प्राणीशास्त्र प्रजनन और जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से समाज मनोविज्ञान मानसिक व्यापारों की दृष्टि से समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों की अतः क्रियाओं की दृष्टि से, शिक्षाशास्त्र ज्ञानवर्धन की दृष्टि से और दर्शनशास्त्र संपूर्ण सत्य की दृष्टि से करते हैं। समाज-दर्शन इन समस्त सामाजिक विज्ञानों से दर्शन के तथ्यों को लेता है और इन्हें मानवीय जीवन की एकता के प्रयास में समझने का पूरा प्रयत्न करता है।[37]

इसका मूल कार्य इस प्रकार सामाजिक विज्ञानों से प्राप्त तथ्यों की व्याख्या करना और इस बात को समझाना है कि 'मानव जीवन एक है अपने अंतिम रूप में मनुष्य विज्ञान के लिए ही नहीं है विज्ञान मनुष्य के लिए है। मानव जाति के भेदभाव उसे विच्छिन्न नहीं कर सकते।' सारी मानव जाति एक अविच्छिन्न इकाई है। यही दर्शन समाज-दर्शन का लोक है।[38]

कथा साहित्य और पारिवारिक चेतना

पारिवारिक चेतना का बोध सर्वप्रथम परिवार के साथ रहकर परिवार में ही होता है। इसका पहला पाठ परिवार में पढ़ाया जाता है। मानवीय संवेदनाओं का आदान-प्रदान बृहद् समाज में व्यक्ति को सफल व्यवहारिक जीवन में मार्गदर्शन बनता है। वस्तुतः परिवार के सभी सदस्य सामूहिक रूप से मिलकर एक विचारधारा के संबंध में अपना मत या समर्थन देते हैं तभी समाज के सभी कार्यों को सामूहिक रूप से निर्देशित कर बाँध पाती है इसमें जो प्रतिक्रिया होती है वही चेतना पारिवारिक चेतना कहलाती है। भारतीय समाज रूढ़िगत समस्याओं से घिरा हुआ है। मानव का दृष्टिकोण एक संकुचित क्षेत्र तक सीमित था समाज में जो सुधारक हुए उन्होंने अपनी व्यक्ति चेतना को सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया और मानव ने इस विचारधारा की पुष्टि की वह समग्र रूप से

संगठित होकर सामाजिक संघर्षो का सामना करें। इनमें बालविवाह ऐसी ही समस्या थी। इस संबंध में विवेकानंद ने अपना मत देते हुए कहा कि जिन प्रथाओं से अबोध बालिकाओं का पाणिग्रहण होता है ऐसी प्रथा से मैं असहमत हूँ इन समस्या के प्रति सुधारकों ने एक समूह के रूप में एकत्रित होकर चेतना ज़ाग्रत करने का प्रयास किया। सामाजिक चेतना के कारण ही इस अमानुषिक प्रथा को बंद करने में अधिनियम पारित कराये गये।

जिसमें 1807 में पहला अधिनियम बनाया गया, 1841 में दूसरा अधिनियम बना जो समाज के बीच मान्य हो गया। इस संबंध में रमानाथ का कथन है-"1929 में हरविलास शारदा एक्ट, बाल विवाह नियंत्रण अधिनियम बना, कानून के रूप में बड़ौदा सरकार ने "दि इन्फेक्ट मैरिज प्रिवेशन" नामक एक्ट पास कराके बालविवाह को निषिद्ध घोषित कर दिया किन्तु 1955 में लड़की की 15 एवं लड़के की उम्र 18 कर दी गयी। 1978 में न्यूनतम आयु बढ़कर 18 से 21 कर दी गई यह अधिनियम इसीलिए प्रभावी रहा कि इसकी अवहेलना करने पर दण्ड का विधान रखा गया।"[39] व्यक्तिगत रूप से समाज की यह समस्या सुधारकों के प्रयास के कारण सफल भी हुई। इस प्रकार की समस्याओं के प्रति पारिवारिक चेतना कई उपन्यासकारों का केन्द्र बिन्दु भी रही है। जिनमें दहेज प्रथा भी शामिल है। "1961 में दहेज निषेध अधिनियम बनाया गया है। इसे अधिक सार्थक बनाने में संसद ने एक समिति का गठन करके 1982 में दहेज प्रतिबंध अधिनियम बनाया इसकी सफलता के लिए संपत्ति मूल्य की सीमा और भेटों की सूची आवश्यकता है, दहेज की माँग करने वालों को कारावास की अवधि 6 माह और एक हजार जुर्माना दंडनीय होगा।"[40] सभी सुधारकों ने शिक्षा को सामाजिक चेतना उत्पन्न करने का आधार माना है। इस संबंध में ओमेले का कथन है कि-"विधवा विवाह का समाज इतना विरोध करता था कि सुधारकों ने विधवा को स्वावलम्बी बनाने में शिक्षा का सहारा लिया।"[41]

वस्तुतः राजराममोहन राय और महात्मा गांधी जैसे सुधारकों ने सामूहिक रूप से समाज की इन संकीर्ण प्रथाओं के प्रति चेतना उत्पन्न कर दी जिसका विश्व स्तर पर समाधान भी हुआ। यही कारण है कि यह सुधारक एक आदर्श रूप में भी स्थापित हुए। महिला सुधारकों में सरोजनी नायडू, कस्तूरबा गांधी, मीराबेन, विजयलक्ष्मी पंडित का व्यक्तित्व देखने को मिलता है। इस प्रकार 1927 में अखिल भारतीय सम्मेलन में इन कुरीतियों के प्रति सामाजिक चेतना का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया।

परिवार

व्यक्ति का जब व्यक्ति से एक समुदाय के रूप में संपर्क हुआ तो उसने अपने को एक निश्चित क्षेत्र में सुरक्षित रखने के लिए परिवार नामक संस्था को जन्म दिया। मानव समाज का इतिहास परिवार से प्रारंभ होता है। परिवार एक प्राकृतिक और सार्वभौमिक संस्था है। आज भी मानव के विकास में एक प्राथमिक इकाई के रूप में उसके जीवन केन्द्र बन गयी है। प्रत्येक सभ्य और असभ्य समाज में हमें परिवार का अस्तित्व देखने को मिला है। सामाजिक संस्थाओं के अंतर्गत परिवार वह कड़ी है जो व्यक्ति का

संबंध एक दूसरे से जोड़ती है। परिवार के रूप में एक ऐसा श्रोता हमारे सामने उदित हुआ है, जिसने मानव जाति के बीच आत्म संरक्षण वंश और जातीय जीवन की सत्ता को सुरक्षित रखते हुए सुख शांति से ओत-प्रोत कर दिया है। परिवार एक दर्पण की भांति है जिसमें व्यक्ति समाज रूपी छवि देख सकता है।

परिवार सामाजिक जीवन की एक इकाई है। इसमें मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ ही सेवा भाव से एक दूसरे को जोड़े रहती है। इस संबंध में मजमूदार ने कहा कि :- "परिवार एक ऐसा समूह है जो एक साथ रहते हुए रक्त संबंधों के रूप में बंधे हुए हैं और स्वार्थ तथा पारस्परिक कर्तव्यबोध के आधार पर समान होने की चेतनता या भावना रखते हैं।"[42] इस प्रकार परिवार अन्य व्यक्तियों का एक समूह है जो संबधों के रूप में एक दूसरे से बंधे हुए हैं। अपनी-अपनी भूमिकाओं में परस्पर संबंधों को विकसित करते हैं वे समय-समय पर एक दूसरे की रक्षा का उत्तरदायित्व वहन करते हैं, यही कथन वर्गेस और लॉक .... और लॉक कहते है - "परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जहाँ विवाह रक्त या गोद लेने के संबंध जुड़े हुए हैं, जिनमें पति-पत्नी, माता-पिता, बहिन-भाई के रूप में एक दूसरे से अंतः क्रियाओं को सामाजिक भूमिका के रूप में बनाये रखते है।"[43] परिवार एक ऐसी संस्था है जो सामाजिक नियंत्रण के साथ-साथ परिवार के सदस्यों का विकास करती है। बच्चे के व्यक्तित्व का विकास परिवार में ही संभव है। यह आंतरिक रूप से हमेशा सदस्यों को प्रभावित करती रहती है। इसलिए मैकाइवर पेज का विचार है :- "परिवार एक समूह है जो यौन-संबंधों पर आधारित है। इसका दायरा इतना छोटा और शक्ति शाली है कि संतानोत्पत्ति और उसके लालन-पालन में की व्यवस्था करने में सक्षम है।"[44] इस प्रकार यौन-संबंध परिवार में संभव है, यह सत्य है। परन्तु यह परिवार का एक आधार नहीं है बल्कि बहुत कुछ है। इस संबंध में वेस्टरमार्क के अनुसार :- "माता-पिता और बच्चों से युक्त परिवार एक अत्यंत स्पष्ट सामाजिक इकाई के रूप में होता है जिसमें दोनों प्रधान संरक्षक के रूप में होते हैं।"[45] इस प्रकार परिवार सगे संबंधियों से युक्त वह संस्था है जो समाज की शक्ति का स्त्रोत है।

इस प्रकार कहा जा सकता है परिवार वह संस्था है जिसमें सामाजिक जीवन का प्रथम पाठ पढ़ाया जाता है। इसमें मानवीय संबंधों, संवेगों और सद्‌भावनाओं का प्रमुख स्थान होता है, साथ में सामाजिक मान्यताएँ आदर्शों का संस्थापन तथा उनका नियंत्रण होता है। इस प्रकार परिवार समाज की प्रमुख इकाई है जिसके बिना समाज की हम कल्पना नहीं कर सकते है। यही बात पूरे के कथन से स्पष्ट होती है कि "शिक्षा देने वाली संस्था के रूप में परिवार की कार्यकुशलता पर ही संपूर्ण समाज की सुरक्षा और गौरव निर्भर करता है।

संयुक्त परिवार

सदियों से संयुक्त परिवार सामाजिक जीवन के आधार रहे हें। इस परिवार में पुरूष प्रधान संरक्षक के रूप में कार्य करता है। इसमें सामूहिक आवास, कोष, सामूहिक कल्याण एकता और पारस्परिक सद्‌भावना का भाव प्रमुख रहता है। यही प्राचीन धर्मग्रंथों

में कहा गया है :- ''प्राचीन धर्मग्रंथों में संयुक्त परिवार व्यवस्था अपनाने के निर्देश दिये गये हैं।'' संयुक्त परिवार प्रणाली भारतीय समाज की वह नींव है जहाँ अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों को महत्व प्रदान किया जाता है। इस संबंध में मजूमदार का कथन है:- ''कर्ता को परिवार के संबंध में निर्णय लेने का अधिकार है, इसलिए उसे परिवार का जज और जूरी कहा जाता है, वही सामाजिक धार्मिक, आर्थिक, साम्प्रदायिक पंचायत में परिवार का प्रतिनिधित्व करता है।''[46] इस संयुक्त परिवार के अंतर्गत हमारा, कर्तव्य जैसी भावना को प्रधानता दी है जो व्यक्तियों के आपसी संबंधों को पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित करते हुए आगे बढ़ती जाती है। यही कथन कार्वे का है - ''संयुक्त परिवार उन व्यक्तियों का समूह है जो साधारण एक ही मकान में रहते हुए, एक ही रसोई में पका भोजन करने के साथ एक दूसरे के दुख-सुख में शामिल रहते हैं, समान भागीदार के रूप में एक दूसरे से जुड़े रहते है।''[47] कई पाश्चात्य विद्वानों ने संयुक्त परिवार के संबंध में अपनी परिभाषाएँ दी हैं, उनसे संयुक्त परिवार का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। श्यामाचरण दुबे का मत है ''यदि कई परिवार एक साथ रहते हैं जिनमें निकट का रिश्ता होने के साथ एक जगह भोजन करते हैं और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं इसी सम्मलित परिवार को दुबे ने संयुक्त परिवार कहा है।''[48]

अब प्रश्न उठता है कि संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियों के सदस्य एक साथ रहते हैं और उनके सुख-दुख में बराबरी के भागीदार रहते हैं। इसके संबंध को हम निकट का रिश्ता तो नहीं कह सकते हैं, श्री दुबे का मत संयुक्त परिवार की स्पष्ट परिभाषा को व्यक्त नहीं करता। इसी प्रकार डॉ. कपाड़िया ने संयुक्त परिवार के संबंध में अपना मत रखते हुए कहा है - ''संयुक्त परिवार प्रणाली सांस्कृतिक परम्पराओं को आगे बढ़ाने के साथ-साथ सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान देती है। इसमें तीन पीढ़ी तक के सदस्य परस्पर रहते हुए अधीनता और आधिपत्य की भावना को नियंत्रित करने के साथ संबंधों को इतना प्रभावशाली बना देते हैं कि व्यक्ति अपना व्यक्तित्व इसी में विलीन कर देता है। व्यक्ति परिवार से हटकर अपने बारे में सोच नहीं सकता।''[49] संयुक्त परिवार के संबंध में कपाड़िया ने जो मत दिया उसमें उन्होंने जो तीन पीढ़ी का उल्लेख किया है वह गलत है। संयुक्त परिवार में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है न कि विलीन। कपाड़िया और श्री दुबे ने संयुक्त परिवार के संबंध में जो मत दिये है उससे यही प्रतीत होता है कि वे पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित है। संयुक्त परिवार की संज्ञा विद्ववानों ने किले से की है इस संबंध में पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा है, संयुक्त परिवार सम्मलित सदस्यों का जीवन बीमा है। इसमें परिवार के सभी सदस्यों को सभी परिस्थितियों में उनके सम्मान और सम्पत्ति की रक्षा सामूहिक रूप से होती है यह संस्था समाज के लिए लाभदायक रही है। इसका एक कारण यह है कि पारिवारिक संबंधों में अधिकार की भावना न होकर कर्तव्य और त्याग की भावना मूलतः रही है। इसमें परिवार का स्वरूप परम्परावादी होने से (कर्ता) घर के बुजुर्ग बड़ों का निर्णय सर्वमान्य रहता है।

प्राचीनकाल में काल प्रवाह के अनेक आघात सहकर भी भारत में संयुक्त परिवार व्यवस्था बनी हुई है। आधुनिक काल में अनेक सामाजिक, आर्थिक और वैयक्तिक कारणों से अपने स्वरूप का परित्याग करने को बाध्य हुई है। यद्यपि ग्रामों में अब भी संयुक्त परिवार-व्यवस्था अपना स्थान बनाये हुए है, किन्तु नगरीय जीवन में इसके प्रति आकर्षण समाप्त हो रहा है। इस संबंध में डॉ. द्वारिका प्रसाद गोयल का कथन है - "औद्योगीकरण तथा जनतंत्रीकरण की विचारधारा ने व्यक्तिवाद को जन्म दिया है। व्यक्तिवादिता से संयुक्त परिवार की सत्ता और अधिकार धीरे-धीरे कम होने लगे हैं। स्त्री-पुरूष अधिकार और चंगुल से दूर भागने का प्रयत्न करने लगे। भौतिकवाद और सांस्कृतिक आकर्षणों के प्रति व्यक्ति आकर्षित होने लगा, प्रेम-भावना, वात्सल्य स्नेह, भावात्मक एकता, पारस्परिक उत्तरदायित्व, सामूहिक हित आदि सभी तत्व व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित होने लगे।"[50] इससे स्पष्ट है कि मध्ययुग संयुक्त परिवार प्रथा का स्वर्णकाल था, वही वर्तमान में वह अपने स्थान पर कायम न रह सकी। भारतीय हिन्दू समाज धर्मभीरू और परम्परावादी रहा है। वर्तमान में इसका रूप एक जर्जर व्यवस्था के रूप में सामने आया है किन्तु नेहरू के शासन काल में भू-स्वामित्व,, सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार और औद्योगीकरण ने संयुक्त परिवार प्रथा को कमजोर बना दिया है।

कबीला

मानव जीवन जब एक समुदाय के रूप में पृथ्वी पर निवास करने लगता है, जो मानव जीवन के सुख-दुख में भावात्मक स्तर पर परिवार और संयुक्त परिवार व्यवस्था से जुड़ता है। इस प्रकार अब वह मानव जीवन में सहयोग, आपसी प्यार, अपनत्व जैसी भावनाओं को समझने लगा है। एक निश्चित भू-भाग पर वह अपने जीवन की शुरूआत करता है। प्रारंभिक अवस्था में मानव ने कबीलों में निवास करते हुए अपना स्थान बना लिया था। इसमें इनकी कुछ मान्यताएँ एवं परम्पराएँ सम्मलित है। कबीले के रूप में इनकी एक जाति होती है। इस प्रकार को सामूहिक व्यवस्था को आगे बढ़ाने के प्रयत्नों में वह सफल होता है। इस तरह से एक जगह से दूसरी जगह निवास करती ये जनजातियाँ अपने को स्वतंत्र अनुभव करती है इनका कोई निश्चित क्षेत्र नहीं रहता न ही कोई बंधन होता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपना जीवन-यापन कर आगे बढ़ते रहते हैं। इसमें एक वंशानुगत मुखिया होता है। विवाह व्यवसाय पेशों के संबंध में एक नियम का पालन करते हैं जो निश्चित है। एक जनजाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते हैं। इनकी अपनी विशेषताएँ रहती हैं, जिसका ये पालन करते हैं। कबीले के रूप में वह एक नये समूह का निर्माण करता है। इन्हीं से मिलकर समाज की रचना होती है।

"यदि हम विश्व को सत्तावान वस्तुओं का संयोग मात्र समझते हैं, एक नियम-नियंत्रित व्यवस्था भर मानते हैं, तो हमारी चेतना अपूर्ण है। किन्तु हमारी चेतना यदि यह जान लेती हैं कि समस्त वस्तुएँ यदि आत्मिक रूप से जुड़ी हुई हैं और इसलिए आनन्ददायी हैं। तो हमारी चेतना परिपूर्ण है। इस विश्व का चरम प्रयोजन यही नहीं है

कि हम अपनी सहानुभूति को विस्तृत करके इस विश्व में अपना साक्षात्कार करे अपने को विश्व से अलग करके उस पर हावी होने के बजाय उसे समझे और इसके साथ अपने को पूर्णतः एकाकार कर लें।" - *रवीन्द्र नाथ टैगोर* ।

समाज की परिभाषा के लिए हमें समाज शास्त्रियों के विचारों पर दृष्टिपात करना होगा। गिडिंग्स कहते हैं -"समाज स्वयं संघ है, संगठन है, औपचारिक संबंधों का योग है जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के साथ जुड़े या संबद्ध हैं।"[51] इस प्रकार समाज एक ऐसे संघ या संगठन के रूप में सामने आता है जिसमें रहने वाले लोग औपचारिक संबंधों द्वारा एक दूसरे से संबद्ध है। मैकाइवर एवं पेज कहते हैं - "रीतियों, कार्यविधियों, अधिकार व पारस्परिक सहायता, अनेक समूहों उनके विभाजनों, मानव व्यवहार के नियंत्रणों द्वारा स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था का नाम समाज है। सदैव परिवर्तित होने वाली इस जटिल व्यवस्था को ही हम समाज कहते हैं।"[52] इनके अनुसार समाज मानवों का संगठित समूह है जो रीति-रिवाजों, कार्य-परम्पराओं, सहायता, व्यवहार के नियंत्रण एवं स्वतंत्रता आदि का नियमन करता है, जिसमें रहने वाले सदस्य कुछ औपचारिक संबंधों की सीमा में आते हैं और एक साथ रहते हुए एक-दूसरे से सहयोग करते हुए अपने व्यक्तित्व का विकास करते हैं। अन्य शब्दों में कहें तो निश्चित एवं स्थायी सार्वजनिक उद्देश्य के लिए पारस्परिक सहायता एवं सहयोग के आधार पर संगठित मानव समूह समाज कहा जा सकता है।

चेतना को मानव की बुद्धि ज्ञानात्मिका मनोवृत्ति या संज्ञा के रूप में समझा जा सकता है जो प्रत्येक मानवीय क्रियाकलाप का मूल है। इसी चेतना को 'शब्दकल्पद्रुम' में इस रूप में परिभाषित किया गया है - "स्वरूप ज्ञान व्यंजिकायां प्रभावं साधांरं कारणिकियां चित्तवृत्तौ ज्ञानाख्यां भगवतो विभूतिमिति शब्दार्थ चिंतामणि।"[53] अर्थात् मानव के चित्त में ज्ञान का या कार्य-कारण की आधार जो वृत्ति है वही चेतना कहलाती है। मानव मन में इसका अस्तित्व सदैव विद्यमान रहता है। "जैसा कि स्वयं 'चेतना' शब्द से आभास मिलता है उसकी सहायता से हम विश्व का चेतते हैं, अपने इर्द-गिर्द की घटनाओं के प्रति चैतन्य होते हैं।"[54] अरविंद अपने दर्शन में कहते है - "मानव बुद्धि मानव चेतना की ही अभिव्यक्ति है। मानव व्यक्तित्व में बुद्धि का विकास होने पर उसमें विवेचना करने की परवर्ती अवस्थाओं में अति-मन एवं परा-मन की उत्पत्ति होती है। मानव मन जब परा-मन के स्तर तक पहुँच जाता है, उस समय उसे ब्रह्मा की ब्रह्माण्डीय चेतना के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है।"[55]

उपनिषद् में चेतना के संबंध में कहा गया है - "सारी भौतिक प्रकृति का आधार ज्ञानमय सक्रिय चेतना तत्व है। इस चेतन तत्व में आकाश और काल निहित है और इसी से इनकी उत्पत्ति होती है, अतः यह स्वयं काल और आकाश से परे हैं और तदनुसार आनुभविक दृष्टिकोण से इसकी कोई स्थिति नहीं है यह अभूत है, यह पदार्थ-सत्य न होकर दार्शनिक-सत्य है।"[56] बौद्ध दर्शन में चेतना की परिभाषा इस रूप में की गई है-

"मनः संस्कारः कृतमः? रक्तस्य या चेतना, द्विष्टस्य या चेतना, मूढ़स्य या चेतना। चेतासिको द्वयेष धम्रवूचत्तनिश्रिताश्चित्तप्रतिवद्धाश्चित्तं निश्रित्य प्रवर्तते।"[57] दर्शन कोष के अनुसार, "चेतना वस्तुगत यथार्थ के परावर्तन का उच्चतम रूप है, जो केवल मनुष्य में अंतर्निहित होता है चेतना उन मानसिक प्रक्रियाओं का समन्वय है जो मनुष्य द्वारा वस्तुगत जगत तथा स्वयं अपने स्वरूप के अब बोध में सक्रिय रूप से भाग लेती है।"[58] ये सभी तो भारतीय ज्ञान योग के प्रतिनिधि दर्शन हैं लेकिन भारतीय जन मानस में भक्तिवादी या भाववादी दर्शन की मान्यता अधिक है। यह दर्शन भी चेतना के विषय में विचार करता है-" ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशि।"[59] चेतना वह तत्व है जो कि प्रत्येक जीवन में प्रतिभाषित होती है। यह ईश्वर का ही रूप है एवं नश्वर है कुल मिलाकर देंखा जाय तो समस्त भारतीय दर्शन का आधार यह है कि चेतना मानव के अंतर्मन में सदा सक्रिय रहने वाला वह तत्व है जिसके कारण वह प्रत्येक प्रकार की अनुभूतियां करता है। चेतना के कारण ही हम देखते, सुनते, समझते और चिंतन करते हैं। हमें भले-बुरे, सुख-दुख की अनुभूति भी चेतना के कारण ही होती है। चेतना के विषय में भारतीय दार्शनिक दृष्टि का कुल उपागम यही है कि चेतना पदार्थ या भौतिक जगत को गतिमयता प्रदान करने वाला तत्व है, जीव की आत्मा ही चेतना है।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी चेतना की उत्पत्ति एवं विशेषताओं पर विचार कर कुछ तथ्यों का प्रतिपादन किया है - प्रकृतिवाद के अनुसार - "चेतना की उत्पत्ति भौतिक पदार्थ से हुई है। चेतना भौतिक पदार्थ से अलग अवस्था में नहीं रह सकती। चेतना का अस्तित्व भौतिक पदार्थ पर ही निर्भर करता है।"[60] मार्क्सवादी चिंतन भी इसी बात की पुष्टि करता है - "मानव व्यक्तित्व में चेतना की उत्पत्ति भौतिक पदार्थ से होती है। मानव मास्तिष्क में अतिरिक्त चेतना का स्वतंत्र आस्तित्व नहीं होता। चेतना मानव मस्तिष्क की ही अभिव्यक्ति है।"[61] एक और पाश्चात्य दार्शनिक विचारधारा प्रत्ययवाद के अनुसार-परम-तत्व का स्वरूप आधारभूत रूप से आध्यात्मिक है। चेतना के अतिरिक्त चरम सत्ता में और किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं है।"[62] पाश्चात्य विचारकों की पुष्टि प्रायः वैज्ञानिक सत्यों पर ही आबद्ध रही है। चेतना पर भी वैज्ञानिक दृष्टि से ही विचार किया गया है - चेतना वह अनुभूति है, जो मस्तिष्क में पहुँचने वाले अभिगामी आवेगों से उत्पन्न होती है।"[63]

मुख्य पाश्चात्य विचारधाराएँ हैं जो चेतना एवं भौतिक पदार्थ या शरीर के आपसी संबंध पर भी विचार करती है। पाश्चात्य चिंतन प्रायः इसी बात पर जोर देता है कि चेतना शरीर से स्वतंत्र वस्तु नहीं है, उसका अस्तित्व पदार्थ पर ही निर्भर है। भारतीय मत चेतना को पदार्थ का नियामक मानता है और पाश्चात्य मत चेतना को आधार निरूपित करता है। चेतना के विषय अनेक तरह के विचारों को जानने के बाद भी हम चेतना को स्पष्टतः परिभाषित नहीं कर सकते। सर विलियम हेमिल्टन ने चेतना को अपरिभाषेय बताते हुए कहा है -"चेतना की परिभाषा नहीं की जा सकती। हम केवल यह अनुभव कर सकते है कि चेतना क्या है लेकिन हम चेतना को जो समझते हैं जैसा

अनुभव करते है बिना किसी उल्झन के दूसरों को नहीं बता सकते, क्योंकि सभी प्रकार के ज्ञान के मूल में चेतना प्रधान होती है।''[64] जीवन के अनेक क्षेत्रों में हम चेतना को विविध रूपों में व्यक्त पाते हैं। प्रत्येक काल के मूल में इसी चेतना की परिव्याप्ति है। चेतना शून्य मस्तिष्क कार्य नहीं करता। जीव तभी तक प्राणवान होता है जब तक उसमें चेतना रहती है। चेतना को पदार्थ-जन्य माने या पदार्थ को चेतना-जन्य, इस बात को तो हमें स्वीकार करना ही होगा। चेतना अपने विकसित रूप में निश्चित ही भौतिक जगत को प्रभावित करने में सक्षम होती है। आचार्य दीपकर लिखते हैं - ''चेतना शरीर से स्वतंत्र नहीं है, वह गौण है और मस्तिष्क का एक व्यापार है तथा बाह्य जगत का प्रतिबिंब है परन्तु साथ ही वह पदार्थ का परम-प्रतिषेध नहीं है। इसलिए कि चेतना अति-संगठित पदार्थ (मस्तिष्क) का गुण-धर्म है। वह भीतरी उपकरणों के प्रभाव से उदित और विकसित होती है, परन्तु पदार्थ से जन्म लेकर चेतना एक प्रकार की स्वतंत्र स्थिति हासिल कर लेती है और भौतिक जगत के विकास को प्रभावित करती है।''[65] इस तरह चेतना की उत्पत्ति विषयक मत में भले ही मतभेद दिखाई दे चेतना के क्रियाकलाप के विषय में मतैक्य के ही दर्शन होते हैं।

चेतना मानव अनुभवों का संग्रहालय है। इस चेतना के तीन स्तर है - चेतन, अवचेतन और अचेतन।''[66] मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अवचेतन और अचेतन की प्रतिकूल मानसिक स्थिति का नाम चेतना है। व्यक्ति-मस्तिष्क में व्याप्त यह चेतना जो उसके कार्य-व्यापार का मूल है मानवीय या व्यक्तिगत चेतना है। मानवीय चेतना का सर्वोच्चशिखर या कर्म-क्षेत्र में उसकी सर्वश्रेष्ठ व्याप्ति हमें 'विश्व-बंधुत्व' या वसुधैव-कुटुम्बकम्' के रूप में ही दिखायी देती है। जहाँ चेतना का वैयक्तिक स्वरूप पूरी तरह विलीन होकर समष्टि का व्यापक धरातल खोज लेता है। वैयक्तिक चेतना या मानव-मात्र की चेतना का सर्वश्रेष्ठ रूप सामाजिक चेतना या मानवतावाद ही है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस पर विचार करते हुए लिखा है-''आज नाना-स्वरों में वैयक्तिक संचलित आकार धारण करके एक ही उत्तर मानव-चित्र की गंभीरतम भूमिका से निकल रहा है-मानवतावाद ठीक है। पर मुक्ति किसकी? क्या व्यक्ति मानव की? नहीं। सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को व्यक्ति मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि मनुष्य को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा।''[67] वैयक्तिक चेतना या व्यक्तिगत अनुभव के व्यापक समाजीकरण को ही 'सामाजिक चेतना' के नाम से अभिहित किया जाता है। सामाजिक चेतना को परिभाषित करते हुए श्री रत्नाकर पाण्डेय लिखते है-''समाज की अधोगति और पतनावस्था की विविध प्रतिकूल परिस्थितियों में जो प्रतिभा आकर्षक दीप्ति बनकर चमक उठे और जिसके प्रभाव से समस्त समाज में जनजागरण की लहर व्याप्त हो जाए उसी को सामाजिक चेतना का वाहक समझना चाहिए।''[68] इस कथन को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि सामाजिक चेतना ही वह शक्ति है जिसके द्वारा समाज अवनति से उन्नति की दिशा में अग्रसर होता है। समाज को

उसकी स्वप्तावस्था से जागृत करने की प्रेरणा या शक्ति ही समाज की सामाजिक चेतना है। ''इसी सामाजिक चेतना'' को देवराज पथिक मानवीय चेतना की समग्रता में परिभाषित करते हैं - ''मानव समाज में अमानवीय प्रवृत्तियों, ... यथा-शोषण, भ्रष्टाचार, अनाचार, दुराचार, निर्धनता, अज्ञानता आदि का निरसन करके एक ही समाज का सृजन करना, जिसमें मानव-मात्र को अपने गुणों के विकास के यथोचित परिवेश और वातावरण और पोषण की समस्त सुविधाएँ प्राप्त हो सके, मानव चेतना की सबसे बड़ी उपलब्धि कही जा सकती है।''[69]

समाज का क्षेत्र बहुत व्यापक है जिसमें राजनीति, धर्म, साहित्य आदि अनेक तत्वों का समावेश है। जिस समाज में रूढ़ियों, परम्पराओं, विसंगतियों, विद्रूपताओं और विकृतियों से जुड़ने की जितनी अधिक ऊर्जा, ललक और जिजीविषा विद्यमान होती है वह उतना ही चेतनायुक्त होता है। समाज की चेतना में आये दिन परिवर्तन आते रहते है क्योंकि समाज एक परिवर्तन शील संगठन है। सामाजिक प्राणी होने के कारण मानवीय आपसी संबंधों में जो परिवर्तन आते हैं वे ही सामाजिक चेतना के परिवर्तन के आधार बन जाते है।'' अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्ध कायम करते है जो अनिवार्य होते हैं और उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। उत्पादन के इन संबंधों के कुल जोड़ से समाज की वह आर्थिक संरचना बनती है ज़ो वास्तविक आधार होती है, जिसके ऊपर कानूनी और राजनैतिक इमारत खड़ी होती है और जिसके अनुरूप सामाजिक चेतना के निश्चित प्रकार होते हैं।''[70]

व्यक्ति और समाज के आपसी रिश्ते को कार्ल-मार्क्स ने न केवल स्वीकार किया है बल्कि चेतना के स्तर पर उन्होंने इन दोनों के बीच की द्वंदात्मक स्थिति को भी स्पष्ट किया गया है। ''मनुष्य की चेतना का निर्धारण करता है।''[71] जब कभी भी समाज अथवा राष्ट्र की परम्परागत मूल शक्ति निर्बल पड़ जाती है और नवीन विचार धारा उसकी स्थानापन्न बनती है, तब इसी परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में इस अवधारणा को व्यक्त किया जाता है। यह अवधारणा समाज या राष्ट्र में नवीन चेतना का संचार करती है।

भारतीय दार्शनिकों ने चेतना को सच्चिदानंद मानते हुए : सत्+चित्+आनन्द के रूप में चेतना के तीन प्रमुख स्तरों को इंगित किया है। उनके विचार से चेतना पूरे विश्व में इन्हीं स्तरों ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक रूप में प्रसारित होती है सामाजिक चेतना के इन्हीं स्तरों से होता हुआ मानव सामाजिक जीवन में प्रविष्ट होता है क्योंकि भावात्मक चेतना से उत्पन्न संवेदना और ज्ञानात्मक चेतना से उत्पन्न विचार का संयोग उसे कर्म-क्षेत्र में प्रवृत्त करते हैं। मानव का वह चेतन कर्म ही वह कर्म है जिसके विषय में डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं - ''ईश्वर के अभिप्राय के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का मनुष्य समाज के प्रति कुछ कर्तव्य कर्म है।''[72] मानवीय चेतना का समग्र परिपाक् उसके सामाजिक जीवन में ही देखा जा सकता है। सत्य सामाजिक चेतना द्वारा मनुष्य पशुत्व से ऊपर उठकर दिव्यत्व (मनुषत्व) में प्रवेश करता है। राम के लोकनायकत्व की मूल यही

सामाजिक दृष्टि है। प्राचीन भारतीय कर्मयोग का सिद्धांत भी मूलतः वैयक्तिक चेतना के लोक-व्याप्तीकरण का संदेश है, यही 'भगवत्‌गीता' का उपदेश-सार है जो स्वहित का त्याग कर समाज या राष्ट्र के हित में कर्म की प्रेरणा देता है।

मानवीय संगठन के विकास में सामाजिक संगठन की चेतना प्रमुख है। सभ्यता के अनवरत विकास में सामूहिक मानवता को एकाकार करने का कार्य कला एवं संस्कृति द्वारा किया जाता है। सांस्कृतिक एवं सभ्य मानव की कला में सामूहिकता का उन्मेष अनिवार्यतः पाया जाता है। संसार की प्रत्येक कला अपने वास्तविक उपागम की प्राप्ति के लिए सामाजिक चेतना में आवश्यक रूप में संयुक्त होती है।" सृजन में कलाकार का इस समाज से जुड़ना आवश्यक है प्रत्यक्षतः कलाकार और परिवेश के बीच संतुलन इस बात में निहित है कि जीवन के तीव्र व्यक्तिगत अवबोध को संसार के स्वतंत्र अस्तित्व की अटल-भावना से जोड़ा जाए। कला की रचनाओं में भी संसार को हमारी आंखों के सामने अपना जीवन, केवल उसके लिए लाक्षणिक जीवन जीना चाहिए।"[73]

सामाजिक चेतना के दो अंतरंग तत्व है - सामाजिक जागृति और सामाजिक चेतना। जब किसी नयी विचारधारा को कोई समाज ग्रहण करता है और वह विचारधारा किसी निश्चित लक्ष्य के आलोक में आगे बढ़ती है तो सामाजिकता की भावना जागृत होती है। इसी जागृति को सामाजिक चेतना से संबोधित किया जाता है। सामाजिक चेतना से संयुक्त साहित्य ही मानव-मात्र का कल्याण कर सकता है - "जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके,जो उसको आत्मा को तजोद्‌क्षप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"[74] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इन विचारों से यही ध्वनित होता है कि केवल सामाजिक चेतना से अनुप्राणित साहित्य ही 'साहित्य' कहलाने योग्य है। आचार्य इस मानव-मात्र को उसकी दुर्गति से मुक्त कराकर मनुष्यतत्व की साधना को ही साहित्य का लक्ष्य स्वीकार किया है न केवल भारतीय साहित्यकारों एवं विचारकों ने सामाजिक चेतना को कला एवं साहित्य का प्राण माना है, वरन् पाश्चात्य एवं अन्य विचारकों ने भी सामाजिक चेतना एवं मानवतावाद से सम्पृक्त साहित्य एवं कला को युगीन धरातल पर खड़े होने योग्य माना है। जार्ज लुकॉच का कहना है कि-"श्रेष्ठ साहित्य वही होता है जो अपने समय के अंतर्विरोधों से वैचारिक स्तर पर दो-दो हाथ करता है उन्हें तोड़ता है और साहित्य में अपनी मानवतावादी चेतना के द्वारा उसका पुर्ननिर्माण करता है, लोगों की सोच, दृष्टि-भावों, विचारों में गुणात्मक परिवर्तन, विकास पैदा करता है। जब साहित्य में इस प्रकार के ज्वलन्त प्रश्न अपनी पूर्व शक्ति-ईमानदारी-प्रतिबद्धता से मूर्त होते हैं, तो वह साहित्य अपने युग का सबसे शक्तिशाली आधार बनता है।"[75] देशकाल की सीमाओं से परे जीवन को श्रेष्ठ रूप प्रदान करने एवं समष्टि को मुक्ति प्रदान करने की भावना ही सर्वत्र साहित्य एवं कला का परम लक्ष्य स्वीकार की गयी है। यही प्रकारान्तर से साहित्य में 'सामाजिक चेतना' की अभिव्यक्ति है।

साहित्य तभी कालजयी एवं जन-मन-रंजक हो सकता है जब उसकी आत्मा लोक में व्याप्त हो। मानव एक सामाजिक प्राणी है और उसका अस्तित्व बिना समाज के संभव नहीं है। समाज मानव-जीवन के लिए आवश्यक शर्त है तो यह कैसे संभव है कि मानव-रचित साहित्य समाज से असम्बद्ध हो। साहित्य की भी अनिवार्य शर्त है कि वह समाज से उपादान ग्रहण करे और उसी के श्रेष्ठतर रूप के लिए प्रयत्नरत हो। साहित्य के इस लोकरंजक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं - "यदि राक्षसराज पर चढ़ाई का मूल कारण (राम का) आत्म गौरव या दाम्पत्य प्रेम होता तो राम के 'कालाग्नि-सदृश क्रोध' में काव्य का वह लोकोत्तर सौंदर्य न होता। लोक के प्रति जब करूणा सफल हो जाती है। लोक जब पीड़ा और विघ्न-बाधा से मुक्त हो जाता है, तब रामराज्य में जाकर लोक के प्रति प्रेम-प्रवर्तन का, प्रजा के रंजन का, उसके अधिकाधिक सुख के विधान का, अवकाश मिलता है।–[76] जन के कल्याण की साधना से ही राम का चरित्र अमर है और इसे आज ही लोक-मन में परम-पूज्य स्थान प्राप्त है। समाज को बेहतर बनाना और उसे जीवन संघर्षों में अक्षुण रहने की प्रेरणा देश साहित्य का प्रमुख सरोकार है। साहित्यकार समाज का निर्माता एवं पथ-प्रदर्शक है। साहित्यकार समाज-हित में आवश्यक बातों की जानकारी समाज को देता है।

उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, लंबी कविताएँ, मुक्त छंद, क्षणिकाएँ, लघुकथायें, इंटरव्यू, पत्र, रिर्पोताज, व्यंग्य-लेख, निबन्ध आदि साहित्य की प्रत्येक शैली में केवल वे ही रचनाएँ शीर्ष पर होती है जो सामाजिक चेतना की वास्तविक वाहक हो। जीवन में मानव को समष्टि से संबंध रखना अनिवार्य है तो साहित्य में भी यही आवश्यक है। "एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से अलगाव की स्थिति में नहीं रह सकता, कवि की यह सामाजिक चेतना मूलतः विश्व-चेतना की ओर इंगित करती है।"[77] काव्य या साहित्य में समष्टिहित के विचारों का समावेश ही साहित्य को लंबी अवधि तक जीवित बनाये रखता है। क्योंकि साहित्यकार युगदृष्टा होता है। अतः वह साहित्य को समकालीन समाज का प्रतिबिंब बनाता है और चूँकि वह युगदृष्टा होता है। अतः वही समाज को आदर्श-संहिता एवं जीवन-मूल्य प्रदान कर युग के पुर्ननिर्माण की प्रक्रिया में योगदान देता है। साहित्य में इसी रूप की अभिव्यक्ति सच्ची सामाजिक चेतना है।

"समय बीतने के साथ-साथ विभिन्न पीढ़ियों की सांस्कृतिक आवश्यकताओं में भी परिवर्तन होता रहता है। भाषा बदलती रहती है और कलाकार नई कृति का स्रजन समसामयिक संस्कृति और भाषा के परिवर्तित स्तर के संदर्भ में करता है।"

- टी.एस.इलियट

मानव समाज एक परिवर्तन शील व्यवस्था है। मानवीय आवश्यकताओं, नवीन आविष्कारों जीवन मूल्यों आदि सामाजिक चेतना के नियामक तत्वों में परिवर्तन होने से समाज और सामाजिक चेतना में परिवर्तन होता है। इसी गतिशील एवं परिवर्तन शील सामाजिक चेतना की साहित्य में अभिव्यक्ति साहित्य की समकालीनता कहलाती है। रघुवीर

सहाय ने समकालीनता को परिभाषित करते हुए कहा है कि-"जो जीवन की अभिव्यक्तियों में समकालीनता है, कविता में समकालीनता भी वही है, मनुष्य की प्रतिभा और सामर्थ्य की अनंत सम्भावनाओं का द्वार अपने अनुभव के लिए खुला रखकर सप्रयत्न उसके वर्तमान को बदलने में जो संलग्न होता है, वही समकालीनता का धर्म-निर्वाह करता है।"[78] रघुवीर सहाय समकालीनता को न केवल वर्तमान अनुभूतियों का प्रकाशन मानते है वरन् वे उसे वर्तमान को परिवर्तित करने वाली शक्ति का नाम देकर सामाजिक चेतना से संयुक्त करते हैं। वही साहित्य जीवन के सुदीर्घ प्रवाह में शक्तिशाली सिद्ध होता है जो समकालीन अनुभवों का परिचय पटल होते हुए भी उसे बदलने या सुधार लाने के लिए कटिबद्ध है। साहित्य सृजन के संदर्भ में समकालीनता को शक्ति-रूपा स्वीकार करते हुए श्री आनंद प्रकाश दीक्षित ने लिखा है-"समकालीनता, मेरे लिए मात्र कालबोध के लिए प्रयुक्त की जाने वाली भाव वाचक संज्ञा ही नहीं है, बल्कि सर्जना के धरातल पर मैं उसे जीवन्तता प्रदान करने वाली एक शक्ति और सर्जक के लिए एक ऐसा उपयोगी तत्व, जो उसकी कृति को नवता प्रदान करके गृहीता को उस कृति के निकट लाने और उससे आत्मीय भाव से जुड़ जाने का सम्बल प्रदान करता है, मानता हूँ।"[79]

साहित्यकार समाज का दृष्टा और सृष्टा दोनों होता है। अपने समय के समाज में व्याप्त विसंगतियों विडम्बनाओं, विकृतियों, खूबियों और समग्र परिस्थितियों के यथातथ्य चित्रण से ही साहित्यकार का दायित्व समाप्त नहीं हो जाता, साहित्य के माध्यम से बेहतर समाज के निर्माण में सहयोग देना साहित्यकार का कर्तव्य है।

साहित्य के उद्‌भव से आज तक की यात्रा में हमेशा ही हम साहित्य को समाज से सम्पृक्त पाते हैं। समकालीन सामाजिक यथार्थ और चेतना से असम्बद्ध साहित्य जीवन का प्रतिनिधि नहीं हो सकता। साहित्य में काल अपनी समग्रता में व्यक्त होता है और इसीलिए साहित्य अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों को एक-साथ वास्तविकता में चित्रित करता है। साहित्य के इसी तथ्य को लक्षित कर जवाहर लाल 'तरूण' ने कहा है- "वास्तव में साहित्य एक सतत् जीवन धारा है, जो अतीत के गहन बीहड़ से फुटकर वर्तमान की धरती पर तरंगित होती, सौंदर्य-रस बिखेरती भविष्य के असीम-अथाह सागर की ओर बढ़ती जाती है। इसीलिए साहित्य में अतीत की प्रेरणाएँ, वर्तमान की जीवन्त वास्तविकताएँ और भविष्य की आशाएँ, आकांक्षाएँ एक साथ तरंगित होती है।"[80] साहित्यकार समाज के यथास्थिति रूप को तो व्यक्त करता ही है, साथ ही वह समाज के परिवर्तन को गति प्रदान करने वाला महत्वपूर्ण घटक भी है। कोई भी साहित्य कालजयी तभी होता है जब वह सामाजिक दृष्टि का प्रतिफल होने के साथ समाज की सृष्टि में भी सहयोगी हो। समकालीन सामाजिक चेतना के इसी रूप को साहित्य में पूजनीय माना गया है। आनन्द प्रकाश दीक्षित ने लिखा है - "समकालीनता .... केवल तात्कालिक प्रक्रिया के रूप में गृहीत होकर नहीं रहती, बल्कि रचना में वह एक दृष्टि की सृष्टि करती है, जिसके फलस्वरूप रचना कालातीत और कालजयी बनकर जीती रहती है क्योंकि उसमें स्वयं

अतीत बन जाने पर भी परम्परा का बल समाहित हो जाता है और उसे भविष्य की संभावना से स्पंदित करता रहता है।''[81] अतः सामाजिक सरोकार को आधार बनाकर सृजित रचनाएँ ही कालजयी और प्रासंगिक होती है और साथ ही साथ महत्वपूर्ण भी।

विभिन्न संबंधों में अजनबीपन के चित्रण का प्रयोग

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में 'नयी कहानी' संबंधों के टूटने की कहानी है। इस कथा संसार में सारे संबंधों से विच्छिन्न व्यक्ति अधिकाधिक अकेला और अजनबी होता चला है। पिछली पीढ़ी के प्रति घृणा, अविश्वास और पारस्परिक अपरिचय-अनिश्चय-नयी कहानी इसी यथार्थ की प्रामाणिक लगती है।''[82] परिवार की सारी संबंध श्रृंखला टूटने लगती है। विघटन के क्षण बाप-बेटे, भाई-बहन, भाई-भाई, सबके जीवन में उभरने लगते हैं और इसकी व्याप्ति इन सारे संबंध स्तरों पर संश्लिष्ट रूप में दीख पड़ने लगती है। यह अजनबीपन आत्म - निर्वासन की स्थिति है। इसकी पराकाष्ठा हो जाने पर सारे सामाजिक और मानवीय संबंध निरर्थक हो जाते हैं और पाशव ही मानवीय हो जाता है-''निर्वासन की स्थिति में जब तमाम सामाजिक और मानवीय संबंध व्यर्थ प्रतीत होने लगते हैं तब जो पाशव है वही मानवीय हो जाता है और मानवीय पाशव।''[83] आत्म परायेपन की धारणा में वे सारे कार्य अजनबी हो जाते हैं जो मनुष्य के लिए 'अभिलम्बित मुक्त, सचेतन, सहज और रचनात्मक कार्य है। साथ ही वे निजता से छूट भी जाते हैं। ''इस तरह अजनबी कार्यकृति तथा निवैयक्तिक मनुष्य क्रमशः अकेली भीड़ तथा अजनबी इंसान के हेतु है।''[84]

इस अजनबीपन को रेखांकित करते हुए कहा गया है कि ''हम अभिशप्त है अति परिचित होने के लिए। इसलिए हमारे देश की मानसिकता इस अति परिचय से ऊबी हुई है और इस अतिशय ऊब का परिणाम है अपरिचय की ऐच्छिक मनोदशा। इसीलिए हमारा अपरिचय इस अति परिचय की देन है .....।''[85] वस्तुतः

''हम एक दूसरे से अपरिचित होने की कोशिश में
कुछ अधिक अपरिचित होकर
गुजर रहे है
एक-दूसरे के समीप से लगातार।
प्रत्येक सुबह तुम लगती हो
कुछ और अधिक अजनबी मुझे।''[86]

अजनबीपन के विषय में दस वर्ष पूर्व तक का ही चिंतन प्राप्त होता है। बीते वर्षों में इसके प्रति रूझान स्पष्ट कर इसे बौद्धिक व्यामोह के सीमान्त तक पहुँचा दिया जाता है। यह एक संश्लिष्ट गत्यात्मक रूप में विकसित होने वाली प्रक्रिया है, जिसका तनाव तकनीकी कम अन्तर अधिक है।

मन्नू-भंडारी अकेलेपन का अनुभव कभी-कभी थोड़े समय के लिए करती है और अकेलेपन के पीछे चारों ओर की जिंदगी से न जुड़ पाने का क्षोभ समय के लिए करती है और अकेलेपन के पीछे चारों ओर की जिंदगी से न जुड़ पाने का क्षोभ स्वीकारती

है।"[86] तो कृष्णा सोबती प्रायः अपने को अलग और उदासीन पाती है।"[87] शिवप्रसाद सिंह इस वैयक्तिकता को सरल उपलब्धि मानते हैं।"[88] तो शरद जोशी इसका विरोध करते हैं।"[89] भीष्म साहनी कहते हैं कि "..... यह सच है कि आज के मशीनी युग में मनुष्य बहुत कुछ अकेला होता जा रहा है, बड़े-बड़े कारखानों में, बड़े-बड़े संस्थानों में काम करने वाले लोगों के आपसी संबंध अवैयक्तिक होते जा रहे हैं। यह अकेलापन एक सामाजिक तथ्य है, आज के युग की सभ्यता है।"[90] सच्चे अर्थ में यह अजनबीपन अतिशय आवाजों का शोर है, यहाँ राजनैतिक अराजकता-अव्यवस्था में बरकरार झूठे आश्वासन का बुनियादी संकट बिन्दु उभरा है। अपने यहाँ व्यक्ति समाज से खंडित होकर अजनबी हुआ है। उसके अकेलेपन की अनुभूत पीड़ा बड़ी गहरी है, जिस बीच वह मरकर जी रहा है और जीकर मर रहा है। अजनबीपन का एक कारण व्यवहार की कृत्रिमता भी है। व्यक्ति जिन लोगों को पसन्द नहीं करता, उनके साथ भी अपने काम आ सकने के लिए मेल-जोल बढ़ाता है। व्यक्ति व्यवहार की इस कृत्रिमता के कारण पहले परिवार से फिर समाज से अंततः अपने आपस से अजनबी हो जाता है। श्रीमती विजय चौहान ने अजनबीपन के तीन विभिन्न सोपान -

(1) मन के फिल्टर का अत्यन्त सूक्ष्म होना। (2) व्यक्तित्व का विभाजित होना। (3) शीजोफ्रेनिया रोग का होना-निर्दिष्ट करते हुए भारतीय और पाश्चात्य अजनबीपन का अन्तर स्पष्ट किया है। उनके अनुसार भारतीय समाज इन तीन सोपानो में दो को पार कर तीसरे की ओर उन्मुख है, परन्तु पाश्चात्य समाज इन तीन सोपानों में दो पार कर तीसरे की ओर उन्मुख है, परन्तु पाश्चात्य समाज तो इसकी तीसरी सीढ़ी भी पार कर चुका है।"[91] दूधनाथ सिंह 'निर्णय के अंतरंग क्षण में कहते हैं कि अकेलेपन की बात रूढ़ हो गयी है, पर अकेलापन रूढ़ नहीं हुआ है उसकी स्थिति अनिवार्य है। पहले वह शायद व्यक्तिगत रूप में रहा होगा, किन्तु अब पूरी दुनिया समूचे रूप से अकेली होने लगी है। उनके शब्दों में -

"हमारे युग का तथाकथित अकेलापन एक बृहद् अकेलेपन की भूमिका मात्र है। यह एक आरंभ है।"[92] वे एक बहुत बड़ी बात कहते है "क्या हम घर के एकांत कोने में जब बिल्कुल अकेले होते हैं तब पूर्णतः सुखी नहीं होते? क्योंकि तभी हम सच्चे अर्थों में अकेले नहीं होते, लेकिन ज्यों ही हम किसी से टकरा जाते हैं, हम अकेले होना शुरू कर देते हैं, हम अपने को खोना शुरू कर देते हैं।"[93]

अजनबीपन का बोध कथा साहित्य में निरन्तर हुआ है। 60 के बाद कहानी में यह प्रयोग जीवन को झेलने का अनुभव करने, उसकी निरर्थकता का बोध करने, उसकी लाचारी और अव्यवस्था को प्रत्यक्ष करने तथा नितांत भौतिक और शारीरिक स्तर पर यौन-चित्रण का प्रयोग हो गया है। यहाँ मार्क्स के आत्म-निवसिन की परिणाम-व्याख्या सार्थक हो उठी है ..... "इसीलिए सम्भोग की क्रिया जैसा पाशव कर्म एकमात्र कर्म बच जाता है जिसमें निर्वासित व्यक्ति अपने-आपको समझता है, उसका स्तर गिर कर पशुता तक पहुँच जाता है।"[94]

संदर्भ ग्रन्थ सूची -

1. *भारतीय समाज : अर्थव्यवस्था और राजतंत्र/पृष्ठ-36-37*
   प्रकाशक : विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन
2. *हमारे चिन्तन की मूलधारा, दिल्ली, 1992, पृष्ठ-60*
   उद्धृत - राष्ट्रीय एकता एवं मानवता के प्रतीक हो, शंकरलाल शर्मा -डॉ. गिरधर शर्मा, प्रथम संस्करण - 1995
   राधा पब्लिकेशन्स, 434814 -बी, गली मुरारी लाल अंसारी रोड, दरियागंज, नईदिल्ली।
3. *वही, पृष्ठ-61-62*
4. *वही, पृष्ठ-60-61*
5. *आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण : रमेश कुंतल मेघ प्रस्तावना से।*
6. *प्रेमचंद : कुछ विचार/पृष्ठ - 72-73*
7. *आधुनिक हिन्दी साहित्य व चरित्र विकास, डॉ, बेचन, पृष्ठ-26*
8. *कुछ विचार, प्रेमचंद, पृष्ठ-47*
9. *मन्नू भंडारी का कथा साहित्य - किशोर गिरड़कर, पृष्ठ-97*
10. *एक इतिहास एक वर्तमान, चन्द्रावली सिंह, पृष्ठ-31*
11. *प्रेमाश्रम : प्रेमचंद, पृष्ठ - 85*
12. *वही, पृष्ठ-72*
13. *गोदान : प्रेमचंद, पृष्ठ-59*
14. *'राख और चिन्गारी', श्री भगवतीचरण वर्मा, पृष्ठ-91*
15. *'दीवाली और होली', श्री इलाचंद्र जोशी, पृष्ठ-23*
16. *तर्क का तूफान, श्री यशपाल, सन् 1945, पृष्ठ-69*
17. *जैनेन्द्र की श्रेष्ठ कहानियाँ, श्री जैनेन्द्र कुमार, सन् 1960, पृष्ठ-41-42*
18. *अमरवल्लरी तथा अन्य कहानियाँ, श्री सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' पृष्ठ-28*
19. *'प्रदीप', श्री वाचस्पति पाठक, पृष्ठ-75*
20. *'तीन दिन', श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पृष्ठ-137*
21. *'दूरी की कौड़ी', श्री मन्यथनाथ गुप्त, सन् 1960, पृष्ठ-5*
22. *हिन्दी उपन्यास : डॉ. सुषमा धवन प्रेमचंद तथा उत्तर प्रेमचंद काल 1955 तक राजेन्द्र यादव : समाजवादी उपन्यासकार पृष्ठ-321*
23. *एक अंतरंग : सारा आकाश, राजेन्द्र यादव, धर्मयुग 26 नवंबर, 1972, पृष्ठ-11*
24. *एक अंतरंग : सारा आकाश, राजेन्द्र यादव, धर्मयुग 26 नवंबर, 1972, पृष्ठ-11*
25. *हिन्दी उपन्यास, डॉ. शिवनाराण श्रीवास्तव, प्रेमचन्दोत्तर युग प्रयोगकाल राजेन्द्र यादव : पृष्ठ - 49*
26. *हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, डॉ. त्रिभुवन सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, पृष्ठ-585-586*
27. *एक इंच मुस्कान : मन्नू भंडारी का अध्याय, पृष्ठ-200*
28. *एक इंच मुस्कान : मन्नू भंडारी का अध्याय, पृष्ठ-198*
29. *एक इंच मुस्कान : मन्नू भंडारी का अध्याय, पृष्ठ-224*
30. *एक इंच मुस्कान : मन्नू भंडारी का अध्याय, पृष्ठ-201*

31. राजेन्द्र यादव से साक्षात्कार, अक्षर प्रकाशन कार्यालय, 22 नवम्बर,1972
उद्धृत : राजेन्द्र यादव के उपन्यासों में व्यक्ति और समाज पृष्ठ-37/चन्द्रलोक प्रकाशन 128/106, जी ब्लाक किदवई नगर, कानपुर।
32. हिन्दी कहानी, सामाजिक संदर्भ, डॉ. अवश्घोष, राज्यश्री प्रकाशन, मथुरा, 1981 पृष्ठ-42
33. हिन्दी कहानी, सामाजिक संदर्भ, डॉ. अवश्घोष, राज्यश्री प्रकाशन, मथुरा, 1981 पृष्ठ-40
34. नयी उमर की नई फसल, अक्टूबर, 74 पृष्ठ-7
35. हिन्दी कहानी, सामाजिक संदर्भ, डॉ. अवश्घोष, भारतीय राजनीति और शासन, पृष्ठ-323
36. हिन्दी विश्व भारती : खण्ड-9 : कृष्णबल्लभ द्विवेदी, पृष्ठ - 35-47
37. Coultural Sociology : John Lewis Gillin & John Philip Gillin : 1954-page-22
38. समाज-दर्शन : डॉ. रामनारायण व्यास, पृष्ठ-12
39. समाज-दर्शन : डॉ. रामनारायण व्यास, पृष्ठ-13
40. समाज-दर्शन : डॉ. रामनारायण व्यास, पृष्ठ-18
41. साप्ताहिक हिन्दुस्तान-20 अक्टूबर 1991 सम्पादक, मृणाल पाण्डे, पृष्ठ-39
42. हिन्दी उपन्यास का समाज शास्त्रीय अध्ययन : चंडीप्रसाद जोशी, पृष्ठ-19
43. भारत, विभिन्न जातियाँ और संस्कृति : डॉ. डी.एन. मजूमदार
44. दी फैमिली वॉय : वर्गेस और लॉक - पृष्ठ-8
45. समाजशास्त्र : मैकाइवर एवं पेज - पृष्ठ-21
46. वेस्टरमार्क : विवाह और समाज अनुवादक, शंभुरत्न त्रिपाठी, पृष्ठ-17
47. सामाजिक मानवशास्त्र परिचय : डॉ. एन. मजूमदार, टी.एन. मजूमदार -पृष्ठ-54-55, प्रकाशक : नेशनल पब्लिकेशन हाऊस दरियागंज दिल्ली- चौथा संस्करण-1960
48. बंधुत्व संगठन : इरावती कर्वे, पृष्ठ-10
49. मानव और संस्कृति : श्यामाचरण दुबे, पृष्ठ-113
50. भारत वर्ष में विवाह और परिवार : डॉ. के.एन. कपाड़िया, पृष्ठ-256
51. भारतीय समाज : डॉ. द्वारिका प्रसाद गोयल, पृष्ठ-160-61
52. सोशियोलॉजी : गिडिंग्स, पृष्ठ-40
53. सोसायटी : मैकाइवर एवं पेज, पृष्ठ-3
54. शब्दकल्पद्रुम - द्वितीय भाग : शब्द संख्या-459, सन् 1961 ई.
55. ड्यूसन : फिलासफी ऑफ द उपनिषद, उद्धृत-एस.एन. दासगुप्त :भारतीय दर्शन का इतिहास : भाग-1, पृष्ठ-57
56. महर्षि अरविंद : समकालीन दर्शन : अजित कुमार सिन्हा, पृष्ठ-73
57. ड्यूसन : फिलासफी ऑफ द उपनिषद उदघृत - एस.एन. दासगुप्त : भारतीय दर्शन का इतिहास : भाग-1, पृष्ठ-57
58. अर्थविनिश्चय सूत्र : पृष्ठ-8
59. दर्शन कोश : पृष्ठ-198
60. रामचरित मानस उत्तराकांड : तुलसीदास, दोहा 117 पंक्ति 2
61. जॉर्ज सान्तायना : समकालीन दर्शन, अजित कुमार सिन्हा, पृष्ठ-117
62. एक एन्जिल्स एवं लुडविक फेवर बैक : उद्धृत वही, पृष्ठ-30

63. सम डॉग्मॉस ऑफ रिलीजन, : जे.एम.ई. मेक्टागार्ट, पृष्ठ-25
64. रांगेय राघव के उपन्यासों में युग चेतना : प्रभुलाल डी. वैश्य, पृष्ठ-22
65. डिक्शनरी ऑफ फिलॉसफी : सर विलियम हेमिल्टन, डी.डी. रयूनेस, पृष्ठ-64
66. मार्क्सवादी चिंतन : आचार्य दीपंकर, पृष्ठ-66
67. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज, भाग-3/4 पृष्ठ-219
68. हिन्दी साहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-494
69. हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना : रत्नाकर पाण्डेय, पृष्ठ-155-56
70. नई कविता में राष्ट्रीय चेतना : देवराज पथिक, पृष्ठ-16-17१
71. भारत में अँग्रेजी-राज और मार्क्सवाद भाग-2 : रामविलास शर्मा, पृष्ठ-95
72. मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र समग्र चिंतन : कार्लमार्क्स, पृष्ठ-1
73. भारतीय दर्शन : डॉ. राधाकृष्णन, पृष्ठ-129
74. साहित्य और सौंदर्यशास्त्र, बीसवीं शताब्दी का साहित्य, ये. सीदोरोब, पृष्ठ-187
75. अशोक के फूल : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ-148
76. जॉर्ज लुकॉच : जॉर्ज लुकॉच का यथार्थ दर्शन, राकेश कुमार, पृष्ठ-24
77. चिंतामणि भाग-1 : रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ-180
78. भवानी प्रसाद मिश्र की काव्य-यात्रा : संतोष कुमार तिवारी, पृष्ठ-17
79. यथार्थ यथास्थिति
80. समकालीन कविता, संप्रेषण, विचार, आत्मकथ्य, : आनंद प्रकाश दीक्षित, पृष्ठ-24
81. एक दुनिया समानान्तर, राजेन्द्र यादव, पृष्ठ-31
82. 'आलोचना', जनवरी-मार्च, 68 डॉ. नामवर सिंह लिखित 'बहस का प्रारूप' से उद्घृत, पृष्ठ-22
83. आधुनिकताबोध और आधुनिकीकरण : डॉ. रमेश कुंतल मेघ (प्रथम संस्करण, 69), पृष्ठ-194
84. 'नमी कहानी की भूमिका', कमलेश्वर, पृष्ठ-159 पर उद्घृत
85. 'नयी कहानी', सन्दर्भ और प्रकृति के पृष्ठ-159 पर उद्घृत श्रीकान्त वर्मा की काव्य-पंक्तियाँ।
86. 'नई धार', फरवरी-मार्च, 1966, पृष्ठ-113
87. 'नई धार', फरवरी-मार्च, 1966, पृष्ठ-114
88. 'नई धार', फरवरी-मार्च, 1966, पृष्ठ-123
89. 'नई धार', फरवरी-मार्च, 1966, पृष्ठ-130
90. 'आलोचना'
91. 'नयी कहानियाँ, दिसम्बर' 66, पृष्ठ-108
92. 'ज्ञानोदय' अप्रेल 66, पृष्ठ-37
93. 'ज्ञानोदय' अप्रेल 66, पृष्ठ-37
94. 'आलोचना', जनवरी से मार्च 1968,
(नामवर सिंह लिखित 'बहस का प्रारूप' से उद्घृत), पृष्ठ-22

◆◆◆

4

साहित्य और सामाजिक चेतना

- **साहित्य में चेतना का आरम्भ**
- **समाज का अर्थ और परिभाषा**
- **चेतना का अर्थ**
- **चेतना क्या है**
- **सामाजिक चेतना परिभाषा**
- **साहित्य का अर्थ और परिभाषा**
- **साहित्य और समाज**
- **सामाजिक चेतना प्रक्रिया**
- **सामाजिक चेतना और साहित्य का संबंध उद्भव विकास का अध्ययन**
- **आधुनिक हिन्दी साहित्य में सामाजिक चेतना**
- **साहित्य और सामाजिक चेतना आधुनिक सन्दर्भ में निष्कर्ष**

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि "प्रत्येक युग का साहित्य अपने युगीन परिवेश की भूमिका पर ही रचा जाता है।"[1] "साहित्य मानव जगत का सजीव चित्रण करने वाली वह सशक्त कला है जो मानव स्वप्नों और कल्पनाओं को भी एक रूप प्रदान करती है।"[2]

साहित्य के सन्दर्भ में, कम से कम हिन्दी साहित्य के विद्वानों में एक बात साफ नजर आती है, वह है, "साहित्य समसामयिक समाज के सन्दर्भों को किसी न किस रूप में अभिव्यक्ति जरूर देता है। अब सवाल उठता है सामाजिक चेतना और साहित्य के संबंध का। यह सार्वभौम सत्य है कि साहित्य और सामाजिक चेतना का संबंध अटूट है, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि साहित्य में विशेषकर आधुनिक हिन्दी साहित्य के पूर्व भारतीय भाषाओं में साहित्य में साहित्य समाज की प्रवृत्तियों का इतिहास या सूचक मात्र की भूमिका से अधिक नहीं था।"[3] किन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना का उद्देश्य लेकर प्रतिभूत होता है जिससे सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के साहित्य से सामाजिक चेतना का प्रसार होता हैं।

कभी हमारा साहित्य इतिहास रहा है समाज का, तो कभी उत्तेजना में वृद्धि करने का कारक और कभी प्रशंसा करने वाला चारण भाट। साहित्य आम आदमी की आवाज और पहचान आधुनिक हिन्दी साहित्य में ही बनना आरम्भ होता है जिसे हम युगीन साहित्य में सामाजिक चेतना में अभिभूत करते हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य ही भारत में सबसे पहले साहित्य के सभी छंदों बंधों को तोड़कर समाज से एकाकार करता है। और समाज में साहित्य और साहित्य में समाज तात्कालिक रूप से प्रवेश करते हैं इस तरह साहित्य और सामाजिक चेतना का संबंध उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है।

समाज और संस्कृति सदैव परिवर्तित होती रहती हैं अनेक समस्याएं, आती-जाती रहती है, किन्तु साहित्य समय, समाज को आगाह करता है और मानवीय चेतना को इंगित कर सम्पूर्ण समाज को मानवीय दृष्टिकोण से सकारात्मक दिशा की ओर गत्यमान करता है। सामाजिक चेतना और साहित्य समाज के बदलते मानदण्डों के अनुरूप परिवर्तित होते हैं। सहित्य समाज और चेतना पर हम आगे विस्तृत विचार करेंगे।

सामाजिक चेतना और साहित्य का अर्थ और परिभाषा

साहित्य और सामाजिक चेतना पर विचार करने के पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि साहित्य और सामाजिक चेतना का अभिप्राय क्या है विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रामाणिक शब्दकोशों से साहित्य और सामाजिक चेतना इस प्रकार है समाज से साहित्य जन्म लेता है और साहित्य से सामाजिक चेतना। अतः हम सबसे पहले समाज का विचार करते हैं।

समाज का अर्थ और परिभाषा

1. सम-अज 1- मीटिंग विथ फीलिंग इन विथ ए मीटिंग, असेंबली कांग्रेस, कांवलेव, कम्पनी ऐसोसिशन, कलेक्शन।
2. समाज- सं.पु.सं., 1- समूह, संघ, गिरोह दल 2- सभा, 3- हाथी 4- एक ही स्थान पर रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का व्यवसाय आदि करने वाले वे लोग जो मिलकर अपना एक अलग समूह बनाते हैं।
5. वह संस्था जो बहुत से लोगों ने एक साथ मिलाकर किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए, स्थापित की हो।

   सभा, जैसे संगीत समाज, साहित्य समाज आदि।
3. समाजः पु. (संवीय अतत्रेति) सं. अज धञ 2/4/56 इति वीभावोब्रन। पशुभिन्नाना संधः इत्यमरः। सभा इति हेमचन्द्रः यथा भागवते 10/44/9

   धर्म्म व्यति क्रमोडत्यश्च समाजस्य धुर्व भवेत।
   यत्राधर्मः समुन्तिष्ठेन्न स्थेय तत्र कर्हिचित्।।

चेतना

4. कान्शसनेस, अण्डरस्टेंडिग, सेन्स, इंटेलिजेंस।

5. चेतना - सं. (सं.) 1- बुद्धि, 2- मनोवृत्ति, 3- ज्ञानात्मक मनोवृत्ति, 4- स्मृति, सुधियाद, चेतनता, चैतन्य, संज्ञा। होश, चेतना स्त्री, चेतयते अनया इति चित् संज्ञाने पासश्चन्येति युच टाप च। बुद्धि। इत्यमरः 1/5/1यथा भागवते 4/211/34 प्रधान का शाशय धर्म्म संग्रहें शरीर एवं प्रतिपद्य चेतनाम्। एवं विभुः परमांदोअपि शरीरे विषवकारों बुद्धि प्राप्य किया फलत्वेन प्रतीयते इति टीका कच्चुर्णिः। सा गर्भस्थ बालकस्य सप्तभिमासैर्भवति। इति सुखबोधः (ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिः) यथा भगवद्गीतायाम131/6

इच्छाद्वेष सुखं दुखं संघातश्चेतनाधृतिः।
तस्यामभित्यक्तेन्द्रियः वृत्तिः तप्त इव लौह पिण्डे
अग्निशत्मचैतन्यामासरस विदा। चेतना इति शंकर भाष्यम्।
ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिरिति श्रीधरस्वामी

स्वरूप ज्ञानव्यंजिकायां प्रमाण साधारंकारणिकाया चित्तवृतों ज्ञानास्या भगवतों विभूतिमिति शब्दार्थ चिन्तामणिः। वर्णित अर्थों के आधार पर चेतना का अर्थ जीवन्तता या चेतनता स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। किसी वस्तु या प्राणी की संजीवता को भी चेतना कहते हैं। विभिन्न संस्कृत आचार्यों के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि चेतना का अर्थ चैतन्य से है मनोवृत्ति से है, जीवन से है।

चेतना क्या है

''सामान्यतः चेतना शब्द का अर्थ ज्ञान से लिया जाता है ''चेतना मानस की प्रमुख विशेषता चेतना है, अर्थात् वस्तुओं, विषयों व्यवहारों का ज्ञान''[5] चेतना की प्रमुख विशेषताएं है, निरंतर परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह। इस प्रवाह के साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओं में एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य।'' चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव वैचित्र्य से प्रमाणित होता है, और चेतना की अविच्छिन्न एकता व्यक्तिगत तादात्म्य के अनुभव से। विभिन्न विषयों कि अलग-अलग समय पर चेतना होने पर भी हम सदा यह भी अनुभव करते हैं कि मैंने अमुक वस्तु देखी थी।[6] अतः चेतना परिवर्तनशील, प्रवाहमान और अनुभव जन्य होती है।

चेतना प्राणीमात्र में रहने वाला वह तत्व है जो उन्हें निर्जीव जड़ पदार्थों से भिन्न बनाता है। और चैतन्य सम्पन्न बनाकर जीवधारी सिद्ध करता है। चेतना स्वयं को अपने आसपास के वातावतरण को समझने तथा उसकी बातों का मूल्यांकन करने की शक्ति का नाम हैं।

भाववादी दर्शन, चेतना को नियामक और एकमात्र कारण मानता है जो और जिससे सृष्टि तथा समस्त ज्ञान तत्व की उत्पत्ति व्याप्त है वह धारणा की स्वयं निरपेक्षता पर विश्वास करती है। इससे चेतना अज्ञात और रहस्यमय जान पड़ती है।

भौतिकवाद का विश्वास है कि चेतना की स्वयं सत्ता और निरपेक्षता होती है। वह पदार्थ को प्राथमिक मानता है जिससे चेतना की उत्पत्ति होती है। मनोविज्ञान की दृष्टि से चेतना मानव में उपस्थित वह तत्व है जिसके कारण उसे सभी प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। चेतना के कारण ही हम देखते सुनते समझते और अनेक विषयों पर चिंतन करते हैं। इसी कारण हमें दुख-सुख की अनुभूति होती है। इसी के द्वारा हम अनेक प्रकार के निश्चय करते है और अनेक पदार्थों की प्राप्ति के लिए चेष्टा करते हैं। चेतना का अपने में एक स्वतंत्र अस्तित्व है। तथा यह एक सहज और प्रत्यक्ष अनुभव है। यह अनुभव या बोध युगानुकूल स्थितियों के संबंध में निर्णयात्मक भूमिका का निर्वहन करके मनुष्य का उचित मागदर्शन करता है। व्यवहार अनुभव और कर्म की प्रक्रिया से मनुष्य संज्ञान प्राप्त करता है। चिंतन का आरम्भ यहीं से होता है। पश्चिमी विद्वान 'शेष्टुलिन' के अनुसार "चिंतन चेतना के कुछ निश्चित कर्मों से अलग होकर किसी वस्तुगत नए ज्ञान के उत्पादन के लिए विशेष परिस्थतियों में शामिल होता।"[7]

सामाजिक चेतना परिभाषा

"पशुओं से भिन्न अर्थात् जन समूह अथवा जन समाज की ज्ञानात्मिकता मनोवृति का नाम सामाजिक चेतना है।"[8] समाज पशुओं से भिन्न लोगों संघ या समूह का नाम है। हेमचन्द्र ने इसका अर्थ सभा किया है। डॉ. जंकसन के अनुसार "समाज मनुष्यों की मैत्री या कम से कम शांति की दशा का नाम है।" व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं पर जनता के आकस्मिक जमावड़े को समाज नहीं कहा जाता है। एकत्रित लोगों का सार्वजनिक उद्देश्य होता है, यही उद्देश्य उन्हें संगठित रखता है और उन्हें पारस्परिक सहायता और सहयोग की आवश्यकता का अनुभव कराता है, समाज के व्यक्तियों का पारस्परिक संबंध एकता तथा शांति पर आधारित होता है। समाज निर्माण के लिए व्यक्तियों की अधिक संख्या होना अनिवार्य है और उनका सार्वजनिक उद्देश्य लक्ष्यसाधन के लिए शांतिपूर्वक मिलकर काम करना है।

आज समाज में एकता का अभाव बढ़ रहा है। मानव समाज राष्ट्रमात्र तक सीमित नहीं रहा है। अपितु अखिल विश्व मानव समाज बन चुका है एक ओर परिवार दूसरी ओर विश्वव्यापी मानव समूह। साधारणतः सभी समाज है। किन्तु समाज शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं बहुसंख्यक व्यक्तियों के लिए होता है जिनके उद्देश्य स्थायी और निर्दिष्ट होते है।

समाज की अद्योगति और पतनावस्था की विविध प्रतिकूल परिस्थितियों में जो प्रतिभा आकर्षक दीप्ति बनकर चमक उठे और जिसके प्रभाव से समस्त समाज में जनजागरण की लहर दौड़ जाए उसी को सामाजिक चेतना का वाहक समझना चाहिए। "सामाजिक चेतना अभावात्मक या नकारात्मक नहीं होती। वह व्यक्ति मात्र में चैतन्यमूर्त है परन्तु रूढ़ि अशिक्षा और अभावों के कारण यह दुष्प्रभावित या कुंठित हो जाती है।

इस दुष्प्रभाव से युक्त रहना और कुंठा को अपनी अंतर्वृत्ति से तिरोहित बनाए रखना ही सामाजिक चेतना है।''[10] सामाजिक चेतना के संचार के लिए जीवन का उत्सर्ग करना पड़ता है तभी रूढ़ियों में जकड़ी आध्यात्मिकता के स्थान पर नवीन आध्यात्मिकता, नयी संस्कृति को जन्म देती है। ''जब कोई नूतन विचारधारा समाज में प्रविष्ट होती है और निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ती है तो सामाजिक विचारधारा जाग्रत होती है। इसी जाग्रति को सामाजिक चेतना कहते है।''[11]

''एक काल विशेष के सामाजिक मूल्य उस काल के साहित्य मूल्य भी होते हैं। क्योंकि साहित्य अन्ततः समाज को ही तो प्रतिबिंबित करता है। मूल्यों की भांति समाज का यथार्थ भी साहित्य में अभिव्यक्त होता है। किसी काल में यदि समाज की स्थिति पतनशील रही है, यदि उसमें जीवन मूल्यों का अवमूल्यन हुआ है यदि वहां के जीवन में पलायनवादी प्रवृत्तियों की बहुलता है, समाज अराजकता से ग्रस्त है तो रचना में भी ये सारी यथार्थ स्थितियां आवश्यक रूप से रेखांकित की जायगी। बशर्तें रचनाकार सामाजिक चेतना से संपृक्त और उसके लिए चिंतित हो।''[12] अतः साहित्य में सामाजिक चेतना का महत्व सर्वाधिक है।

साहित्य का अर्थ और परिभाषा

साहित्य का एक अर्थ सहित का भाव सहभाव भी होता है। साहित्य के अर्थ के विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ''यह शब्द संस्कृत के सहित शब्द से बना है जिसका अर्थ 'साथ-साथ। साहित्य शब्द का अर्थ इसलिए साथ-साथ रहने का भाव हुआ। दर्शन के तहत एक क्रिया के साथ मौन रहने को भी साहित्य कहा गया है। साहित्य शब्द के अर्थ के संबंध में डॉ. गुलाबराय का कथन है - ''साहित्य का अर्थ हितेन सहः सहितम् लगाते हुए हम कह सकते हैं कि साहित्य वही है, जिससे मानव हित का संपादन हो।''[13] अंग्रेजी शब्द 'लिटरेचर' का साहित्य शब्द का विकास भारतीय चिंतन में काव्य के विश्लेषण से हुआ है। काव्य में शब्द और अर्थ का परस्पर संबंध साहित्येतिहास से आरम्भ होता है, जबकि आम बोलचाल की भाषा में हम किसी भी छपी हुई पुस्तक की संज्ञा देते हैं। किन्तु दूसरे और अधिक उपयुक्त अर्थ में साहित्य में उन्हीं पुस्तकों का बोध होता है, जिसमें कला का समावेश हो।

पश्चिमी विद्वान 'मैथ्यू आर्नल्ड' ने साहित्य को 'जीवन की व्याख्या' कहा है। दशरथ झा एवं प्रो. गुरूप्रसाद कपूर ने 'मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति में ही उसकी सामाजिकता का मूल माना है। परिस्थितियों के आवर्त्तन, चढ़ाव-उतार राज्यों की उलट फेर और विचारों के संघर्ष के कारण जो भाव लुप्त हो जाते है, वे अनुकूल समय पाकर फिर उदित होते हैं और नये साहित्य का निर्माण करते है।

साहित्य को अनेक रूपों में कई विद्वानों में कई विद्वानों ने परिभाषित किया है भारतीय और पाश्चात्य और साहित्यकारों ने साहित्य को बड़े व्यापक रूप में लिया है उन्होंने इसे काव्य का समानार्थी माना है। प्राचीन प्रयोगों से यह ज्ञात होता है कि 'साहित्य'

शब्द मूल रूप में शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है, परन्तु बाद में काव्य के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होने लगा। भर्तृहरि ने साहित्य, संगीत कला में साहित्य को काव्य का समानार्थक माना है

'कुन्तक' ने वक्रोति जीवितम् (1:17) में प्रसंग में कहा है -

साहित्यमवयोः शोभाशलितां प्रतिकाव्य सौ।
अन्यूनानतिरिक्त्तव मनोहारिरण्यव स्थितिः।

अतः जिसमें शब्द और अर्थ दोनों की एक दूसरे के अलावा, परस्पर स्पर्द्धापूर्वक मनोहारिणी, श्लाघनीय स्थिति हो वह साहित्य है कुन्तक ने साथ में यह भी कहा है कि जहां शब्द और अर्थ सब गुणों में समान हों वहां ही यथार्थ रूप में साहित्य है।

आचार्य वामन के अनुसार गुण तथा अलंकार से संस्कारित शब्दार्थ को साहित्य अथवा काव्य कहतें हैं। 'आचार्य क्षेमेन्द्र' के अनुसार भी अलंकार गुण रस आदि का उचित सामांजस्य ही काव्य है -

अलंकारस्त्लंकाय गुणा एवं गुणा सदा।
औचित्य रस सिद्धस्थ स्थिर काव्यत्व जीवितम्।।

'पंडितराज जगन्नाथ' ने रमणीय अर्थ के शब्द को काव्य कहा है - ''रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्द काव्य'' साहित्य की संस्कृत विद्वानों ने अपने-अपने अनुसार परिभाषाएं दी है, कि उपयोगिता की दृष्टि से साहित्य की सही परिभाषा 'हितेन सहः सहितम्'' ही अधिक सार्थक है।

हिन्दी के विद्वानों ने भी संस्कृत के विद्वानों की तरह साहित्य को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जीवन की अभिव्यक्ति को साहित्य की संज्ञा देते हुए कहा है - ''भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति का नाम ही साहित्य है।[14]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य को भावों के प्रकट करने का एक साधन मानते हुए कहा है- ''साहित्य केवल लेखन प्रणाली का नाम है, वाचालता का नही। भिन्नता उसकी प्रणाली उसके सर्वांगपूर्ण और दिगन्तव्यापी होने में है। जो बात कही जाती है, वह सीखने वाले के पास बहुत दूर नहीं जा सकती है, वायु में उसका नाश हो जाता है। जब शब्दों को सारगर्भित और उन्नत भावों को प्रकट करने के लिए प्रयोग करना होता है और उसके द्वारा भावी संतति का उपकार करना वांछित होता है, तब उन्हें लिखना पड़ता है अर्थात् साहित्य के रूप में ढालना पड़ता है।''[15]

भारतीय विद्वान साहित्यकारों की तरह कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी साहित्य को परखा है और परिभाषित भी किया है -

पाश्चात्य साहित्यकारों में हर्बर्ट रोड सारांशतः यह मानते हैं कि काव्य में शब्द और अर्थ का सुन्दर सामंजस्य होता है। साहित्य के अन्तर्गत शब्द और अर्थ के सहभाव

से साहित्यकार या कवि जिसका सृजन करता है वही साहित्य है "अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापति"[16] से यही बात स्पष्ट होती है अतः यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि साहित्य में शब्दों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। साहित्य का माध्यम ही शब्द है चाहे साहित्य शब्द को हम सामान्य या विशेष अर्थ में ही क्यों न लें। साहित्य कला के अर्थ में हो या लिखित रूप में, सदैव सामाजिक प्रयोजन में ही समेटे रखता है। साहित्य हमेशा विचारों और भावों के वाहक का कार्य करता है और वह आत्मप्रकाशन का आत्म निवेदन का साधन भी होता है। प्रो. कमला प्रसाद पाण्डेय के अनुसार "साहित्य केवल कल्पना की उपज या मानसिक निर्माण नहीं है। उसका आधार मनुष्य का यथार्थ जीवन है।"[17]

गुरूदेव रवीन्द्र नाथ के अनुसार "सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा है। यह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का ग्रंथ-ग्रंथ का मिलन नहीं है, परन्तु मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का मिलन है।"[18] अतः साहित्य का अर्थ स्पष्ट करना सरल कार्य नहीं है। इस परिभाषिक शब्द के सम्पूर्ण अर्थ में अनेक गुणों तथा प्रयोजनों के संघात मिलते हैं। किन्तु एक बात निश्चित रूप से है। अब सवाल उठता है सामाजिक चेतना और साहित्य के संबंध का। यह सार्वभौम सत्य है कि साहित्य और सामाजिक चेतना का संबंध अटूट है, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि साहित्य में विशेषकर आधुनिक हिन्दी साहित्य के पूर्व भारतीय भाषाओं में साहित्य में साहित्य समाज की प्रवृत्तियों का इतिहास या सूचक मात्र की भूमिका से अधिक नहीं था।" किन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना का उद्देश्य लेकर प्रतिभूत होता है जिससे सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के साहित्य में सामाजिक चेतना का प्रसार होता है।

कभी हमारा साहित्य इतिहास रहा है समाज का, तो कभी उत्तेजना में वृद्धि करने का कारक और कभी प्रशंसा करने वाला चारण भाट। साहित्य आम आदमी की आवाज और पहचान आधुनिक हिन्दी साहित्य में ही बनना आरम्भ होता है जिसे हम युगीन साहित्य में सामाजिक चेतना से अभिभूत करते हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य ही भारत में सबसे पहले साहित्य के सभी छंदों बंधों को तोड़कर समाज से एकाकार करता है। और समाज में साहित्य और साहित्य में समाज तत्कालिक रूप से प्रवेश करते हैं इस तरह साहित्य और सामाजिक चेतना का संबंध उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है।

समाज और संस्कृति सदैव परिवर्तित होती रहती है अनेक समस्याएं आती जाती रहती हैं किन्तु साहित्य समय, समाज को अगाह करता है और मानवीय चेतना को झंकित कर सम्पूर्ण समाज को मानवीय दृष्टिकोण से सकारात्मक दिशा की ओर गत्यमान करता है। सामाजिक चेतना और साहित्य समाज के बदलते मानदण्डों के अनुरूप परिवर्तित होते हैं। साहित्य समाज और चेतना पर हम आगे विस्तृत विचार करेंगे।

सामाजिक चेतना और साहित्य का अर्थ और परिभाषा

साहित्य सामाजिक चेतना पर विचार करने के पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि साहित्य और सामाजिक चेतना का अभिप्राय क्या है विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रामाणिक शब्दकोषों से साहित्य और सामाजिक चेतना इस प्रकार है- समाज से साहित्य जन्म लेता है और साहित्य से सामाजिक चेतना। अतः हम सबसे पहले समाज का विचार करते हैं।

समाज का अर्थ और परिभाषा

सम-अज 1. मीटिंग विथ फालिंग इन विथ ए मीटिंग, असेंबली, कांग्रेस, कांवलेव, सोसायटी, कम्पनी ऐसोसिएशन, कलेक्शन। 2. समाज - सं. पु.सं., एक समूह संघ, गिरोह दल, दो, सभा, तीन हाथी चार, एक ही स्थान पर रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का व्यवसाय आदि करने वाले है। समुदाय। पांच, वह संस्था जो बहुत से लोगों ने एक साथ मिलकर किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित की ही। सभा, जैसे संगीत समाज,साहित्य समाज। 3. समाज पु. संवीय अतत्रेति सं.का धन 3/4/56 इति वीभायोब्रन। पशुभिन्नाना संभः इत्यमरः। सभा इति हेमचन्द्रः यथा भागवते 10/44/6

धर्म्म व्यति कमोडत्यश्च समाजस्य धुर्व भवेत।
यत्राधर्मः समुन्तिष्ठेन्न स्थेय तत्र कर्हिचित्।

चेतना - 4. कान्शसनेस, अण्डरस्टेडिग, सेन्स, इंटेलिजेंस। 5. चेतना-सं. (सं.) (1) वृद्धि (2) मनोवृत्ति (3) स्कृति,सुधियाद, चेतनता, चेतन्य, संज्ञा। होश, चेतना स्त्री, चेयते अनया इति चित् संज्ञाने पारसश्यन्येति। वृद्धि इत्यमर। 1/5/1 यथा संज्ञा। होश, चेतना स्त्री, चेतयते अनया इति चित् संज्ञाने पासश्चन्येति। युच टाप च। वृद्धि। इत्यमरः 1/5/1 यथा भागवते 4/211/34 प्रधान का शाशय थर्म्म संग्रहे शरीर एवं प्रतिपद्य चेतनाम्। एवं विभुः परमानंदी अपि शरीरे विषवकारां युद्धि प्राप्य किया फलत्वेन प्रतीयते इति टीका कच्चुर्णिः। सा गर्भस्थ बालकस्य सप्तभिमासैर्भवन्ति। इति सुखबोधः (ज्ञानात्मिका मनोवृत्ज्ञिः) यथा भगवद्गीतायाम। 131/6

इच्छाद्धेष सुखं दुखं संघातश्चेतनाधूतिः।
तस्यामभित्यक्तेन्द्रियः वृत्तिः तप्त इव लौह पिण्डे।
अग्निशत्मचैतन्यामासरस विदा। चेतना इति शंकर भाण्यम्।
ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिरिति श्रीधरस्वामी।

स्वरूप ज्ञानव्यंजिकायां प्रमाण साधारंकारणिकाया चित्तवृत्ते ज्ञानास्या भगवतों विभूतिमिति शब्दार्थ चिन्तामणिः। वर्णित अर्थों के आधार पर चेतना का अर्थ जीवन्तता स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। किसी वस्तु या प्राणी की संजीवता को भी चेतना कहते है विभिन्न संस्कृत आचार्यो के आधार पर में कह सकता हूँ कि चेतना का अर्थ चैतन्य से है मनोवृत्ति से है, जीवन से है।

भाषा-भाषा का ग्रंथ-ग्रंथ का मिलन नहीं है, परन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का मिलन है।''[18] अतः साहित्य का अर्थ स्पष्ट करना सरल कार्य नहीं है। इस पारिभाषिक शब्द के सम्पूर्ण अर्थ में अनेक गुणों तथा प्रयोजनों के संघात मिलते हैं। किन्तु एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि साहित्य में शब्दों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। साहित्य को हम किसी भी सन्दर्भ में क्यों न ले उसका प्रयोजन सदैव सामाजिक होता है। साहित्य के सन्दर्भ में यह कहना काफी है कि साहित्य एक उच्च श्रेणी की मानव उपलब्धि हैं जरूरी नहीं कि साहित्य से कुछ नयी बातें मालूम चलें, साहित्य हमारे बीच की बातों को ही नये रूप में हमारे सामने रख सकता है। साहित्य जीवन के मिथ्याचारों से ही ऊपर नहीं ले जाता, बल्कि वह प्राणी मात्र के प्रति सहानुभूति का अनुभव भी करता है। जिसे हमारे साहित्य में दिव्य आनंद की संज्ञा दी गई है। साहित्य कभी भी प्रयोजनहीन और अहितकर नहीं होता। अतः हम उसे साहित्य कह सकते हैं जो मनुष्य का हित साधन करता हो और साथ ही समाज तथा सामाजिक संबंधों को सुदृढ़ता प्रदान करता हो। सारांशतः हम कह सकते हैं कि ''व्यापक जनहित में चेतना सम्पन्न कलात्मकता की अभिव्यक्ति ही साहित्य है।''[19] जो समाज का दिग्दर्शन तो करता ही है साथ ही समय के परिवर्तन के साथ समाज में आयी कठिनाइयों, परेशानियों का निवारण करने में भी सहायक सिद्ध होता है। अतः साहित्य की सार्थकता जीवन तथा समाज से अलग रहकर नहीं है। इस प्रकार साहित्य काल्पनिकता और कलात्मकता की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है यह समाज का प्रतिबिम्ब भी है। उत्कृष्ट साहित्य समाज और राष्ट्र की प्रगति में शक्तिशाली भूमिका निभाता है।

साहित्य और समाज

साहित्य - 'साहित्य केवल कलात्मकता की अभिव्यक्ति नहीं है। साहित्य का उद्देश्य व्यक्ति का उन्नयन है और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे संघर्ष की प्रेरणा देना।'[20] व्यक्ति और समाज में समय-समय पर जो घटता रहता है उसी की कलात्मक अभिव्यक्ति साहित्य है। व्यक्ति जीवन के विविध अनुभवों और ज्ञान को आत्मसात् कर उसकी योग्य शब्दावली में प्रस्तुति एक विशिष्ट प्रकार की प्रतिभा की अपेक्षा रखती है। ऐसी प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति साहित्य का प्रणेता होता है।

लेखक या साहित्यकार अपने सामाजिक परिवेश और जीवन के समस्त अनुभव और ज्ञान का पहले चेतना के स्तर पर साक्षात्कार करता है और फिर कृति के रूप में उसे कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। जिसे साहित्य कहते हैं।

साहित्य रचना के मूल में व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति की सहज इच्छा अपने आस-पास चल रहे कार्य व्यापारों के प्रति रूचि, यथार्थ जीवन और जगत के प्रति आकर्षण, अर्न्तमन के काल्पनिक व्यापारों को शब्द देने की प्रवृत्ति, कलात्मकता का मोह, जीवन के विविध आयामों में समग्रता की खोज की प्रबल आकांक्षा तथा यथार्थ को परिष्कृत करने की कामना और समाज में रहते हुए उसके हित तथा उन्नयन के लिए नित

नवीन दिशा में प्रशस्त हुआ जाता है, इसके साथ ही व्यक्ति मन की संवेदनशीलता, उसकी सौन्दर्यप्रियता, कर्त्तव्यनिष्ठा तथा उद्देश्यपरकता की सहज प्रवृत्ति भी साहित्य रचना की दिशा देती है।

संक्षेप में साहित्य जीवन की विविधता की ऐसी समग्र अभिव्यक्ति है जिसमें व्यक्ति की सभी प्रवृत्तियों का समावेश तो होता ही है, साथ ही जो व्यक्ति के बोध को उन्नत करने में प्रेरक भी बनती है और जिससे व्यक्ति जीवन को सार्थक दिशा उपलब्ध होती है और जीवन मूल्यों का महत्व ज्ञात होता है। इस तरह साहित्य अपने परिवेश को प्रतिबिम्बित करता है। यह उसका मुख्य और मूलयोग है। साधारणतः लेखक द्वारा व्यक्त समाज और परिवेश विशेष की अनेक घटनाओं को साहित्य के भीतर समाविष्ट किया जा सकता है किन्तु बदले हुये "अर्थों में साहित्य से हमारा तात्पर्य उस रचनात्मक ललित लेखन से है जो व्यक्ति के मुक्त अनुभवों और मुक्त प्रेरणाओं को शब्दबद्ध करके उनमें एक उद्देश्यपरकता की प्रतिष्ठा करता है।"[21]

साहित्य उन प्रतिभा सम्पन्न विद्वानों के प्रयासों की देन होता है जो अपनी रचना धर्मिता में उस जन समाज की आत्मा आकांक्षा और यथार्थ स्थिति को पूर्णतः व्यक्त और मूर्त करते हैं, जिनके बीच से जन्म लेते हैं "और जहां वे स्वयं को विभिन्न प्रकार के अनुभवों से समृद्ध करते हैं ये रचनाधर्मी उस जन समाज के जीवन को अपनी कृतियों में उसके अन्तरम की गहराइयों और धड़कनों के साथ अभिव्यक्त करते हैं।"[22]

प्रत्येक समाज, समुदाय या जाति की अपनी कुछ मूलभूत विशेषताएं और कुछ मौलिक चरित्र होता है। अतः वहां रचे जाने वाले साहित्य में उस जाति समुदाय या समाज का प्रतिबिम्ब आवश्यक रूप से प्रकट होता है। ऐसे अर्थों में साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। साहित्य में जीवन के सभी रूपों का अवगाहन और अभिव्यक्त करने की क्षमता होती है वह समाज के किसी भी यथार्थ को मूर्त रूप देने की शक्ति से सम्पन्न होता है। लेकिन साहित्य के सन्दर्भ में अभिव्यक्ति आवश्यक रूप से कलात्मक होनी ही चाहिए। तभी उसको रचनात्मक साहित्य के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है। रचना की पूर्णता सार्थकता और उपयोगिता रचनाकार की क्षमता पर निर्भर करती है।

साहित्य के क्षेत्र में आरम्भ से ही विशेष चिन्तन धाराओं की प्रतिष्ठा होती रही है। यह कार्य उन प्रतिभा सम्पन्न रचनाकारों के द्वारा रूपायित होता है जो अपनी सशक्त और प्रखर दृष्टि सम्पन्न वाणी से जनाकांक्षा को शब्द बद्ध करते हैं। इसके लिए रचनाकार को अनेक अवसरों पर जोखिम भी उठाने पड़ सकते हैं। लेकिन अपने समाज के प्रति उनकी गहरी चिन्ता उनसे यह दुष्कर कार्य करा ले जाती हैं रचना मात्र साहित्यकार की आंतरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है। इसके आगे भी रचना का कर्तव्य होता है और उसकी पूर्ति से ही उनकी रचना सामर्थ्यवान और दीर्घजीवी बनती है।

साहित्य को लेकर हमारे यहां बहुत मतभेद दिखाई देते हैं, साहित्य को अति उत्साह और भावावेश में भले ही 'समाज' को रास्ता दिखानेवाली मशाल कह लिया जाय वास्तविक अर्थों में वह सामाजिक यथार्थ, उसमें होने वाली विविध प्रकार की घटनाओं,

अनुशासित परम्पराओं रीति-रिवाजों और व्यवहार का इतिहास ही होता है। ''वह भविष्य के लिये प्रेरणापद ही होता है। लेकिन यह प्रेरणा महत्वपूर्ण होती है उनको पकड़ने के लिए भी समाज में उतनी ही तीव्र संवेदनशील ग्राह्य शक्ति होनी आवश्यक है।''[23] यह शक्ति पूरे समाज में नहीं हो सकती और विशेषकर भारत जैसे देश में तो यह आवश्यक है।

साहित्य के इतिहास पर सूक्ष्म दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि ''दार्शनिक चिन्तक तथा विचारक की अपेक्षा साहित्यकार में काल्पनिक स्थूलता और कलात्मकता की मात्रा अधिक होती है। इसी कारण से साहित्य एक ओर विविध प्रकार की सामाजिक समस्याओं के लिए ठोस और निश्चित समाधान का मार्ग प्रशस्त नहीं कर पाता तथा दूसरी ओर उसमें रमणीयता के गुण के कारण विशेष आनंद की अनुभूति समाहित होती है।''[24] जो जीवन की अनेक विसंगतियों का सामना करने के विरूद्ध जन आक्रोश को ठण्डा कर देती है। अतः साहित्य का अस्त्र लेकर क्रांति की दिशा में प्रशस्त नहीं हुआ जा सकता। हालांकि प्रतिबद्ध और लक्ष्य केन्द्रित साहित्य के द्वारा या माध्यम से क्रांति की प्रेरणा दी जा सकती है। साहित्य व्यक्ति-व्यक्ति के बीच संबंध, व्यक्ति का समाज के साथ संबंध सुनिश्चित और मजबूत तो बनाता ही है समाज के निरंतर परिवर्तनशील होने के कारण समाज समुदाय या राष्ट्र के सामने उत्पन्न समस्याओं से निपटने में भी अहम भूमिका निभाता है। उदाहरण के लिए भारत की आजादी में हिन्दी साहित्य को मृत में प्राण फूँक देने वाली प्रेरणा सम्पन्नता से कोई इंकार नहीं कर सकता। आजादी के संघर्ष में लिखा गया रचनात्मक साहित्य हमारे साहित्य की अप्रतिम धरोहर है जो हमेशा राष्ट्रीय एकता की प्रेरणा हमें देती रहेगी। अतः साहित्य समाज की मान्यताओं और मूल्यों में परिवर्तन की प्रेरणा प्रदान करता है।

साहित्य को सदा युग की मांगों के साथ देखना आवश्यक होता है। इसी से उसकी प्रतिष्ठा बनती है। साहित्य विभिन्न कालखण्डों में प्रवाहित जीवन की विविध धाराओं का अनुसरण करता है। अतः कहा जा सकता है कि दर्शन की भांति साहित्य की संपूर्ण सार्थकता जनता की सारी आकांक्षाओं, शक्तियों और साथ ही सभी संभावनाओं को चेतना संपन्न बनाने के सन्दर्भ में आंकी जानी चाहिए।

सामाजिक चेतना प्रक्रिया

सामाजिक चेतना में किसी प्रकार की नकारात्मकता नहीं होती। उससे रूढ़ि निष्प्राण परम्परा, अशिक्षा, अभाव, अन्याय, शोषण आदि के दुष्प्रभावों से मुक्ति मिलती है और सामाजिक संगठन के मुख्य उद्देश्य अर्थात् सामाजिक व्यक्तित्व के निर्माण का मार्ग प्रशस्त होता है।

किसी भी समाज के निरंतर विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसमें अपने युग और परिस्थितियों के अनुकूल अपने लोगों के हितों की रक्षा और विकास की दृष्टि से सामाजिक चेतना की धारा सतत् प्रवाहित होती रहे। आज यह बात किसी से छुपी नहीं है कि वर्ग, राजनीति, भाषा तथा अर्थ व्यवस्था आदि वे मूल तत्व हैं जो समाज की

एकरूपता को आधार प्रदान करते हैं। इन तत्वों के सन्दर्भ में कभी-कभी वैषम्य और असंतुलन की स्थिति आने से सामाजिक जीवन पतनशील प्रवृत्तियों को ग्रहण करने लगता है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में यदि किसी विद्वान या समाज सुधारक या साहित्यकार के प्रभाव से उस वैषम्य या असंतुलन के विरूद्ध जन चेतना विकसित होती है तो उस साहित्य और साहित्यकार को सामाजिक चेतना का वाहक और स्त्रोत समझना चाहिए।

सामाजिक चेतना के माध्यम से समाज में व्याप्त प्रतिकूल परिस्थितियों के समाहार का ही प्रयत्न नहीं होता, बल्कि वह नए ज्ञान से पोषित किसी नयी विचारधारा की वाहक भी होती है जब यह नयी विचारधारा, व्यवहरित होकर समाज की प्रगति में सहयोग देती है तो यह नयी प्रगति ही सामाजिक चेतना कहलाती है यद्यपि यह प्रगति ही सामाजिक चेतना का परिणाम ही होता हैं वहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि सामाजिक चेतना की मूल प्रकृति समष्टिवादी है अर्थात् इसके अन्तर्गत व्यक्ति की अपेक्षा समग्र समाज को एक इकाई के रूप में देखने का भाव निहित होता है इसी सन्दर्भ में यह भी माना जाता है कि व्यक्ति के अधिकार उसकी शक्ति प्रतिबंधात्मक है। उस पर समाज का नियंत्रण रहता है।

व्यक्ति का विकास ही समाज का विकास है अतः व्यक्ति के विकास से ही सामाजिक विकास संभव हो सकता हैं। और जब-जब सामाजिक चेतना विकसित होकर प्रवाहमान होती है और समाज सुधार की आकांक्षा बल पकड़ती है तब-तब व्यक्ति वर्गवादी चेतना से असंपृक्त होता चलता है और उसकी सक्रियता स्वस्थ सामाजिक क्रांति की भूमिका का सृजन करने लगती है यही सामाजिक चेतना राष्ट्रीय सन्दर्भों में भी आवश्यक भूमिका का निर्वाह करती है। इस प्रकार राष्ट्र और समाज को नया स्वरूप प्रदान करती है।

व्यक्ति और समाज के परस्पर संबंधों को भी यही सामाजिक चेतना रूपायित करती है। सामाजिक चेतना का भी एक विशिष्ट चरित्र होता है जो आवश्यक रूप से व्यक्ति चरित्र से सम्बद्ध रहता है।

समाज में व्यवहार रूप में जो नैतिकता, दर्शन साहित्य, विधि विधान, एक प्रकार से संस्कृति के विभिन्न रूप और तत्व माने जाते हैं लेकिन सबका उद्‌गम व्यक्ति चेतना ही है। जिसे उदार अर्थों में सामाजिक चेतना का नाम दिया जा सकता है। इस सामाजिक चेतना का आधार सत्य ही सामाजिक चेतना के माध्यम से व्यक्ति की वृत्तियों को उर्ध्वगामी बनाता है।

"समाज आज जिस विकसित अवस्था तक पहुंचा है उसके पीछे इसी सत्य समन्वित सामाजिक चेतना का योगदान है जो समाज को संगठित करके व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सार्वजनिक हितों का समर्थन और पोषण करती है।"[25] किसी भी समाज में उभरने वाली सामाजिक चेतना एक प्रकार से उस समाज के व्यक्तियों के प्रदीप्त भावों, विचारों, मतों सिद्धांतों रीति-रिवाजों व्यवहारों और मूल्यों का योग होती है।

सामाजिक चेतना और साहित्य का संबंध अध्ययन और विश्लेषण

"साहित्य मानव जीवन से सीधा उत्पन्न होकर सीधे मानव जीवन को प्रभावित करता है।"[26] "भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति का नाम ही साहित्य है।"[27]

"आदिकाल से आज तक संस्कृति और सभ्यता की प्रगति एवं साहित्यिक विकास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि भौतिक प्रवृत्तियों के विकास, अवसान और आत्मसर्ग के द्वन्द से सामाजिक चेतना की अक्षुण्ण धारा निरंतर प्रवाहमान होती रहती है।"[28] इस विकास क्रम में व्यक्ति की सत्ता और उसकी चेतना घुल-मिलकर अजस्त्र सामाजिकता का रूप धारण कर लेती है। मानव के सामूहिक कल्याण के लिए सामाजिक अर्न्तधारा के समुद्र में व्यक्ति का अस्तित्व बिन्दु बन विलीन हो जाता है। व्यक्तिगत आत्मलिप्सा के त्याग और सामूहिक जन कल्याण की प्रवृतियों से सामाजिक चेतना उद्धीप्त होती है। "समाज के द्वन्द्व संघर्ष और निरन्तर प्रयास करने की चेतना ही सभ्यता संस्कृति और साहित्य का इतिहास है।"[29]

सामाजिक चेतना और साहित्य का संबंध अटूट है। समाज में हो रहे क्रियाकलापों की प्रतिक्रिया ही साहित्य के रूप में अभिव्यक्त होती है साहित्य और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। जहां एक ओर साहित्य में सामाजिक भावों और विचारों की प्रतिच्छाया परिलक्षित होती है, वही समाज भी साहित्य द्वारा प्रसारित भावों से स्पष्टतः प्रभावित होता है। सामाजिक अन्तप्रवाह से व्यक्तियों के मन में श्रृंखलाबद्ध परिवर्तन आता है। 'विलियम जेम्स' के अनुसार "मन में निरंतर परिवर्तन चेतना के प्रवाह द्वारा मस्तिष्क के असंगठित प्रतिबिम्बों और विचारों के तारतम्य को प्रस्तुत किया जाता है ये विचार एक दूसरे से संबंधित तार्किक होने के कारण नहीं बल्कि प्रतिपल परिवर्तन के संकल्पों के अनुकूल होते हैं।"[30]

सामान्यतः मनुष्य विचारशील प्राणी है, वह निरंतर अपनी विवेक बुद्धि का उपयोग करता रहता है यदि ऐसा न होता तो अस्तित्व और प्रगति के लिए चलने वाले संघर्ष में वह कृतकार्य न होगा। तथापि उसकी परंपराप्रियता कुछ नियमों में इतनी जड़ीभूत हो जाती कि वह कुछ करना बंधी लकीर से इधर-उधर हटना नहीं चाहता। "परंपरागत प्रतिष्ठा संकेतों को ठुकराकर समाज की सुषुप्त विवेकशील का जागरण साहित्य का लक्ष्य प्रेरणा और हेतु है।"[31]

समाज और व्यक्ति की क्रियाशीलता अथवा मानव में श्रद्धा रखना साहित्य का परम पुनीत कर्तव्य है। परम्परा के टूटने के कारण निराशा और बेकारी, आवारापन बुरी से बुरी दुर्भावना और कुदृष्टि समाज को नास्तिक बनाती है और अश्रृद्धा की भूमिका रचती है इस नास्तिकता को लेकर परम्परा नहीं पनप सकती। मानव जीवन की संजीवनी प्रतिभा होती है। वह किसी शब्द की कहानी से परे है। जहां प्रतिभा है वहां मात्र शब्द का तेज नहीं। "जिस हृदय में शब्द का प्राण अनुप्राणित होता है, वहीं सच्ची प्रतिभा युग साहित्य के आयाम में सामाजिक चेतना की सत्य सृष्टि करती है, समाज को दृष्टि और जीवन देती है।"[32]

"जिस तरह शरीर और आत्मा परस्पर अन्योन्याश्रित है, ठीक उसी तरह साहित्य और समाज भी परस्पर अन्योन्याश्रित है। समाज यदि शरीर है तो साहित्य उसकी आत्मा,समाज के वातावरण की नींव पर ही साहित्य की इमारत खड़ी होती है। समाज में जैसी परिस्थितियाँ होगी ठीक वैसा ही या उनसे प्रभावित उस समाज का साहित्य होगा। इस तरह हम कह सकते हैं कि साहित्य समाज की कसौटी पर समाज की प्रतिध्वनि दर्ज करता है। अतः साहित्य और सामाजिक चेतना का संबंध 20वीं शताब्दी के साहित्य की प्रमुख विशेषता है।

"साहित्यकार समाज का मुख और मस्तिष्क दोनों होता है। उसी के द्वारा हम समाज की तह तक पहुंचते हैं जो समाज का मात्र प्रतिबिम्ब ही नहीं, अपितु नियामक और उन्नायक भी होता है।"[33]

"साहित्य सामाजिक चेतना के बिना निष्प्राण होता है तथा युग चेतना के अभाव में अंधा, जो न वर्तमान के बारे में कुछ कह सकता है और न स्वर्णिम उषाकालीन भविष्याशाः के पथ को देख सकता है।"[34] अतः साहित्य में सामाजिक चेतना होना अनिवार्य है। साहित्य समाज की चेतना में सांस लेता है। वह समाज का ऐसा परिधान है जो जनता के जीवन को सुख-दुख, हर्ष-विषाद आकर्षण-विकर्षण के ताने बाने से बुना जाता हैं सही अर्थों में साहित्य वही है जिसमें विशाल मानवजाति की आत्मा का स्पन्दन ध्वनित होता है। वह जनता के जीवन की व्याख्या करता है इसी से उसमें जीवन को प्रेरणा देने की शक्ति आती है, वह मानव को लेकर ही जीवित है, इसलिए वह पूर्णतः मानव केन्द्रित है।"मनुष्य सामाजिक प्राणी है सामाजिक समस्याओं, विचारों तथा भावनाओं का जहां वह सृष्टा होता है वहीं वह उनसे स्वयं भी प्रभावित होता है, इसी प्रभाव का मुखर रूप साहित्य है इस प्रकार साहित्य उसी मानव की अनुभूतियों, भावनाओं और कलाओं का साकार रूप है।

सामाजिक चेतना का अध्ययन साहित्य की महत्वपूर्ण पहचान है। साहित्य की अमरता उसकी सामाजिक चेतना में होती है। और चेतना स्वतः एक सौंदर्य सृष्टि है। जो कि छंद, शब्द, ध्वनि, अलंकार इत्यादि से अधिक महत्व रखती है। "यदि साहित्य की सामाजिकता या सामायिक चेतना महत्वपूर्ण न होती तो रीति युग के रंगीन दैहिक साहित्य को क्यों नहीं आज उतना ही महत्व प्राप्त है। जितना कि 'कबीर' की कविता को प्राप्त हे या प्रेमचंद को है।"[35]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि जो जाति जैसी होती है अपने साहित्य के दर्पण में वह वैसी ही दिखायी देगी। अतः साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है।

सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य साहित्य की सामाजिक चेतना है जिसके कारण आधुनिक हिन्दी साहित्य पाश्चात्य साहित्य के समकक्ष स्वतंत्रता, समानता, संवेदनशील, यथार्थोंमुख,परिवर्तनशील, बदलाव का समर्थन करता है जो भारतीय समाज में नवीन संचार और मनुष्य कल्याण का हेतु बनकर जाता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण परिवेश की लगभग सभी विधाओं में किसी न किसी रूप में सामाजिक चेतना का स्वर प्रधान है। साहित्य के सन्दर्भ में रचनाकार का जीवन उसके साहित्य से अलग नहीं किया जा सकता। समाज के संदर्भ में लेखक की भूमिका नाजुक और संवेदनशील होती है। साहित्य और समाज का घनिष्ठ संबंध होते हुए भी वह समस्यामूलक है। ''साहित्य व्यापक समाज से अपना जो संबंध स्थापित करता है। उसमें सृजन और कला के रचना विधान का महत्व है। साहित्य समाज की अवहेलना नहीं कर सकता क्योंकि लेखक स्वयं एक सामाजिक प्राणी है।'' रचनाकार अपनी रचना सशक्त एवं समृद्ध बनाने के लिए अनुभवों को अनुभूति में परिवर्तन कर अपनी चिंतन क्षमता द्वारा समाज का सही चित्र प्रस्तुत करता है। अतः समाज और साहित्य का संबंध दोहरा होता है। एक ओर साहित्य में समाज से प्राप्त अनुभव हैं तो दूसरी ओर साहित्य समाज को अपनी दृष्टि और उद्देश्य से सामर्थ्यवान बनाता है। इस तरह समाज साहित्य की रचना के पूर्व एवं पश्चात् दोनों समय उपस्थित रहता है। विशुद्ध साहित्य और साहित्कार वह होता है जो समाज में हो रहे शोषण, अत्याचार विषमता, अन्याय और दुराचार आदि के प्रति सदैव चितिंत रहता है। तथा समाज में संतुलन, विकास, सामंजस्य एवं विषमताओं को दूर करने का प्रयत्न करता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में सामाजिक चेतना

लेखक या रचनाकार का भी एक समाज होता है जिसमें वह जीता है जो उसे घेरे हुए रहता है ''जो उसकी नियति है उसका दूसरा समाज वह है जो रचना को जमीन देता है, यह उसका प्रेरक समाज है, लेखक की संवेदना का समाज है रचनाकार का तीसरा समाज वह है जिसमें वह संप्रेषित होता है अथवा जो उसे पढ़ता है। फिर एक समाज रचनाकार के भीतर होता है, युक्तियों,कल्पनाओं, संरचनाओं, अवधारणाओं, रूचियों, शब्दार्थों, सपनों और आदर्शों का। ''वे चारों समाज ताश के पत्तों की तरह अलग-अलग होकर भी मिल-जुलकर चरितार्थ होते हैं। और अपनी अर्थवत्ता और सार्थकता प्रकट करते हैं।[36]

आधुनिक हिन्दी साहित्य और रचना प्रक्रिया के सन्दर्भ में 'अज्ञेय' ने कहा है कि ''परिवेश की चेतना आज की एक प्रबल आवश्यकता है।''[37] लेखक या रचनाकार के परिवेश से तात्पर्य है ''जिसके बीच वह जीता है, जिससे वह प्रभावित होता है जिसके दबाबों तनावों के बीच उसकी सर्जनात्मक प्रवृत्तियां रूप लेती हैं, पनपती हैं और विकसित होती है।''[38] इन सब के साथ-साथ रचनाकार के समय की राजनीतिक मानसिकता भी उसी तरह उसके परिवेश को प्रभावित करती है जिस तरह सामाजिक अथवा सांस्कृतिक मानसिकता। इसमें शिक्षा, इतिहास, दल, सम्प्रदाय भाषा आदि पूर्वग्रह भी है।

साहित्य पर सामाजिक प्रभाव को रूपायित करने में मार्क्सवादी विचारधारा का योग सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।''[39]

व्यापक स्तर पर आधुनिक साहित्य का पूरा आन्दोलन मनुष्य के आस-पास घूमता है।''[40] लगातार जनता के आंदोलन मनुष्य के अधिकारों की मांग करते हैं। उसके अस्तित्व की पहचान होती है जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य का आत्मविश्वास दूसरी

शक्तियों से टूटकर अपने श्रम के प्रतिमानों की आधारशिला रखता दिखाई देता है। यह परिवर्तित मान्यता का उदय खोखले आदर्शवाद और भाववाद के विरोध में यथार्थवाद की स्थापना है। "निरपेक्ष आदर्श की दिशाएं वायवीय होती हैं। यथार्थवादी आंदोलन का अस्तित्व प्रामाणिकता पर आधारित है। इसालिए उसे कल्पना से उतारकर जमीन में लाने में काफी घुमावदार रास्तों से गुजरना पड़ता है।"[41] यह कार्य सरल नहीं है।

भारतेन्दु युग के नाटक लोकगीत द्विवेदी युग का आर्थिक, राजनीतिक और भाषिक आन्दोलन क्रमशः बढ़ते हुए यथार्थवाद के ही विभिन्न रूप थे। अतः यह कहना असंगत न होगा कि आधुनिक हिन्दी साहित्य की समूची रचनाएं कही न कहीं से मार्क्सवादी चेतना से संयुक्त हैं, हिन्दी साहित्य भी समानता, वर्ग विषमता और क्रांति की आवाज देता है।

भारत के लिए बीसवीं शताब्दी अत्यधिक घटनापूर्ण और विशिष्ट रही है। वैसे तो भारत ही क्या, समस्त विश्व में इस युग की तुलना किसी अन्य युग से नहीं की जा सकती। इसी सदी में केवल 20-21 वर्षों के अन्तर पर दो विश्व युद्ध हुए। विज्ञान की नयी से नयी आविष्कृतियां इसी युग की देन हैं। विश्व स्तर पर इतनी राजनैतिक चेतना पहले कभी नहीं देखी गयी। विभिन्न देशों के सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण इसी सदी में परिवर्तित हुए।

इस शताब्दी की विशेषता इस बात को लेकर भी है कि इसमें एक ओर भयंकर संघर्ष और प्रतिस्पर्धा का अतिरेक दिखाई देता है तो दूसरी ओर उदात्त भावनाओं का चरम विकास। संघर्ष और विनिमय की इन दोनों प्रवृत्तियों का भारतीय समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। यह समूचा युग व्यवहारिक स्तर पर व्यक्ति की महत्ता को प्रतिष्ठित करने का युग रहा है। विश्व के साथ-साथ हमारा देश भी परिवर्तन के विभिन्न आयामों से निकलता हुआ आगे बढ़ा है। हमारी संस्कृति में निहित उदात्त प्रवृत्ति विश्व के लिए युगों तक श्रद्धास्पद और प्रेरणादायक रही है। फिर भी आधुनिक काल तक आते-आते हम अपनी ही सामाजिक और धार्मिक संकीर्णता तथा राजनीतिक दास्ता के कारण प्रगति की होड़ में विश्व के अनेक देशों से बहुत पीछे रह गए और ऐसी स्थिति आ गई जब कि कुछ विशेष घटित होने को था, और वस्तुतः यह विशेष सामाजिक और राजनीतिक क्रांति के रूप में घटित भी हुआ। सामाजिक क्षेत्र में राजाराम मोहनराय ने और राजनीतिक क्षेत्र में 1857 की क्रांति ने हमारी घुटन और परम्परा तथा दासता के प्रति विरोध की भावना को अभिव्यक्ति दी। इन दो बिन्दुओं से आरम्भ होकर हमारा आगे का इतिहास स्वतंत्रता प्राप्ति सामाजिक सुधार और सार्वजनिक प्रगति तथा विकास का इतिहास रहा है। इस काल की सामाजिक और राजनीतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में जिस साहित्य सृजन का उपक्रम हुआ, उसमें हम मानवतावादी दृष्टि का विशिष्ट विकास पाते हैं। और सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश में सामाजिक चेतना का विकास उत्तरोत्तर विकसित होता दिखाई देता है।

आधुनिक युग का हिन्दी साहित्य अपने विभिन्न काल खण्डों में विभिन्न स्थितियों भूमिकाओं पर अभिव्यक्त सामाजिक चेतना से समन्वित है, जिससे सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में एक जाग्रति का, सामाजिक सुधार का, परम्परा के अन्वेषण का युग बन गया। आधुनिक हिन्दी साहित्य का आधार आधुनिक भारत की सामाजिक, धार्मिक, नैतिक तथा राजनैतिक स्थितियां रही हैं। साथ ही विदेशी साहित्य और सामाजिक राजनैतिक चेतना और घटनाओं से भी उसने प्रभाव ग्रहण किया है।

भारत में 1854 से अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ होता है। पाश्चात्य शिक्षा में दीक्षित भारतीयों ने पश्चिमी साहित्य और विचारों का अध्ययन किया। उन्होंने रूसो, कार्लाइल, रस्किन, न्यूमैन, इमरसन, थ्यूरो, दॉस्तोवस्की, गोर्की और टाल्सटाय आदि की कृतियों से प्रेरणा ग्रहण की। "रूसों ने फ्रांस की जनता को शोषण के खिलाफ संगठित होने की प्रेरणा प्रदान की थी। उसको व्यक्ति की स्वतंत्रता में अमिट विश्वास था।"[42] इस प्रकार शिक्षा से सामाजिक और नैतिक आदर्शों की अनुगूँज भारतीयों को भी अपने लिए सोचने पर मजबूर करने लगी।

पाश्चात्य शिक्षा और साहित्य का भारतीयों पर व्यापक प्रभाव परिलक्षित हुआ। और इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि भारत के शिक्षित लोगों का एक बड़ा वर्ग पाश्चात्य विचारों से प्रेरित होकर अपने समाज और राष्ट्र के उत्थान और विकास तथा समाज के बारे में गम्भीरता से सोचने लगा। "भारत की सामाजिक और राजनैतिक अवस्था उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते अतिशय दयनीय हो चुकी थी। समाज, धर्म और राजनीति सभी में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थीं तभी पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार ने भारतीयों को एक दिशा प्रदान की और परिणामस्वरूप उन्होंने केवल अंग्रेजी सरकार के प्रशासनिक कार्यों में सहयोग देने में ही अपनी बुद्धि का उपयोग नहीं किया, वरन् अपनी सामाजिक दुरावस्था को भी उन्नत बनाने का संकल्प ले वे एक नये उत्साह के साथ इस पवित्र कार्य में तत्पर हो गए।"[43] इसका परिणाम यह हुआ कि उन्नीसवीं सदी के अंत में तथा बीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों में समाज सुधारकों का तांता सा लग गया। और उन्होंने उन सभी क्षेत्रों में सामाजिक चेतना और सुधार का कार्य आरम्भ किया जिनमें भारत और भारतीय समाज पिछड़ा हुआ था। यह सामाजिक चेतना शिक्षा प्रचार, नारी स्थिति के सुधार, अछूतोद्धार तथा उदार धार्मिक दृष्टि के विकास आदि कई दिशाओं में सम्पन्न हुई। समाजसुधारों के साथ-साथ समाज में राष्ट्रीय और राजनीतिक चेतना भी फैली और उन्हें अपने देश की परतंत्रता चुभने लगी। "इस सबका समन्वित प्रभाव साहित्यकार पर भी पड़ा और उसने भी इसी विकसित होती सामाजिक चेतना को अपनी रचनाओं में स्थान दिया।"[44] जिसे हम सामाजिक चेतना कहते हैं।

इसी सदी के दूसरे दशक में ही भारतीय लेखकों पर पश्चिमी रोमान्टिसिज्म का पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है, इसे हमारे यहां स्वच्छंदतावाद की संज्ञा दी गई है। "इस उदारवाद के अन्तर्गत साहित्य और समाज दोनों स्तरों पर रूढ़ियों को तोड़ने का संकल्प

और सौन्दर्य के पर्यवेक्षण की ललक है। स्वच्छंदतावाद में वैयक्तिक स्तर पर विद्रोह का भाव निहित है। इसके अन्तर्गत प्रवृति, देश-प्रेम, वन वैभव एवं एकान्त प्रणय की भावनाओं को प्रमुखता मिली है। स्वच्छंदतावाद भी देश भक्ति की प्रवृत्ति से सम्पृक्त है, इसमें उदारवादी दृष्टि विकसित हुई है। कुछ और आगे चलकर हम पाते हैं। कि हमारे साहित्यकारों ने अंग्रेजी स्वच्छंदतावाद काव्यधारा से, (जिसके प्रणेता शैली, कीट्स, बायरन आदि कवि थे,) प्रेरणा लेकर जिस काव्य की सर्जना की उसमें आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति, सौन्दर्य के प्रति अतिशय ललक, एक ही सूक्ष्म चेतना का समस्त विश्व में दर्शन तथा सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक तथा साहित्यिक सीमाओं और रूढ़ियों से विद्रोह आदि के भाव विशेष थे। अतः दूसरे और तीसरे दशक में जिस साहित्य का प्रणयन हुआ, उसमें भी सामाजिक चेतना की सूक्ष्म धारा प्रवाहमान होती है।

उधर पूर्वी यूरोप में मार्क्सवादी विचारधारा अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध हुई। रूस इस दिशा में नेता था। अतः लोगों की रूचि जीवन, समाज और साहित्य की और उन्मुख हुई। भारत भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रहा। भारत में रूसी साहित्य का अध्ययन आकर्षण बढ़ा। 'जार' कालीन रूसी समाज में उसी प्रकार शोषण, असमानता, वैषम्य और सामाजिक समस्यायें व्याप्त थीं, जिस प्रकार हम परतंत्र भारत में पाते हैं रूस के उस समाज को 19 वीं सदी के लेखकों ने पर्याप्त अभिव्यक्ति प्रदान की थी। दांस्तोवस्की, टाल्सटाय, मैक्सिम गोर्की का साहित्य इसका प्रमाण है।

"गांधी जी के विचारों में टाल्सटाय के साहित्य की प्रेरणा सहज ही देखी जा सकती है।"[45] जो भारतीय समाज के लिए गांधी जी के जन आंदोलनों में साकार हुई।

आधुनिक युग में हमारे देश के बुद्धिजीवियों ने उपर्युक्त विचारकों और साहित्यकारों का बड़े मनोयोग से अध्ययन किया। और उन्होंने पाया कि सामाजिक चेतना की दिशा में पश्चिम में जो प्रयत्न हुए है और उसके परिणाम स्वरूप वहां की सामाजिक और राजनैतिक स्थिति में जो विकास हुआ है, वह भारत के लिए प्रेरणादायक था। "इसी प्रेरणा से आधुनिक युग के आरम्भिक काल में ही हम देखते हैं कि सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर कार्य किये जाने लगे।"[46] यह शिक्षा द्वारा विकसित दृष्टि का ही परिणाम था। इस प्रकार शिक्षा के विकास ने हमारी दृष्टि को व्यापक परिपेक्ष्य मे अध्ययन और निरीक्षण की प्रेरणा दी। पाश्चात्य साहित्य और विचारों के साथ सम्पर्क स्थापित होने से एक तरफ हमारा मानसिक विकास हुआ और दूसरी ओर हमें सामयिक समस्याओं से निपटने में महती प्रेरणा मिली। और उनके समाधान के लिए प्रयत्न आरम्भ हुए। राष्ट्रीयता की भावना और सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर जिस व्यापक और उदार दृष्टि तथा नवचेतना का विकास हुआ उसने स्वाभाविक रूप से हिन्दी साहित्य को भी प्रभावित किया। हिन्दी साहित्य में सामाजिक पक्ष का उद्घाटन हुआ। साहित्यकार की दृष्टि अपने सामाजिक परिवेश और उसकी विषमताओं की ओर उन्मुख हुई।

साहित्य में जनवाद एवं सुधारवादी भावनाओं के संप्रेषण और प्रकाशन में 'प्रेस' ने बड़ी भूमिका अदा की। समाचार पत्र पत्रिकाएं इस युग की जनचेतना का प्रमुख स्तंभ थी। भारतीय समाज के जनजागरण में 'प्रेस' (समाचार पत्र पत्रिकाओं) ने अभूतपूर्व भूमिका निभाई। भारतेन्दु युग साहित्यिक तथा सामाजिक पत्र-पत्रिकाओं का युग कहा जाता है।

1857 की क्रान्ति से भारत में जन जागरण की जो व्यापक प्रक्रिया आरम्भ हुई थी, उसने समाज में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, क्षेत्र में सुधारवादी आंदोलनों की नींव रखी, जिससे भारत में आधुनिकता का उदय हुआ। जिससे भारत के धर्म, समाज, संस्कृति सभ्यता आदि मध्ययुगीन आदर्शों का नवीनीकरण हुआ, उसमें समय की कसौटी पर संशोधन एवं परिवर्तन की चेतना जाग्रत हुई। इस समय समाज में व्यापक बदलाव की प्रक्रिया तेज हुई। स्त्रियों की स्थिति में सुधार, कुरीतियों का विरोध, शिक्षा का प्रचार, पुरातन जाति व्यवस्था में परिवर्तन, स्वदेशी प्रेम, अंध रूढ़ियों का समापन देश की दुर्गति के कारणों का विवेचन प्रमुख थे।

परिणाम यह हुआ कि साहित्य की सर्वकालीनता समसामयिकता का बाना पहनाकर जनचेतना में प्रवृत्त हुई। "सुधारयुगीन काव्य में समाज एवं तत्सम्बन्धी विविध विषयों का समावेश जिस ढंग से हुआ उसका एक पूर्ण चित्र हमें मैथिलीशरण गुप्त की भारत भारती में देखने को मिलता है।"[47] इस युग के साहित्य में भारत के अतीत के गौरव के साथ-साथ भारत की तत्कालीन दशा, आर्थिक स्थिति, अशिक्षा, धार्मिक संक्रीर्णता, सामाजिक हीनता, भविष्य के लिए प्रेरणा, पारिवारिक जीवन की स्थिति, धार्मिक आदर्श, भाग्यवादी आस्था का खंडन, अवतारवाद के प्रति अनास्था, सामाजिक चेतना की प्रतिष्ठा, नैतिक आदर्शों की व्यंजना, कर्मकाण्डों की भर्त्सना, भेदभाव का खण्डन, चरित्र पर बल, नारी उत्थान, दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा, विधवा समस्या एवं देश भक्ति की भावना का विकास आदि में सुधार हुआ और चेतना की नई लहर फैली। तथा इन समस्याओं को पर्याप्त अभिव्यक्ति मिली।

हिन्दी साहित्य में जागरण, सुधार और परिवर्तन युग की प्रतिष्ठा के लिए शिक्षा, पाश्चात्य विचारों और साहित्य की प्रारम्भिक प्रेरणा से स्थापित विभिन्न सामाजिक संगठनों की प्रमुख भूमिका है, इनमें ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, थ्योसोफिकल सोसायटी जैसे समाज सुधार संगठनों के साथ-साथ ईश्वरचंद्र विद्यासागर, महादेव गोविन्द रानाडे, गोपाल कृष्ण गोखले आदि लोगों का भी महत्वपूर्ण योगदान है। इस तरह 1920 के बाद भारतीय समाज और साहित्य पुरातनता की जंजीरे तोड़कर नूतन परिस्थितियों का सामना करता दिखाई देता है।

साहित्य और सामाजिक चेतना आधुनिक सन्दर्भ में अध्ययन और विश्लेषण

वैसे तो साहित्य और समाज का संबंध अटूट है, किन्तु विरल और अविरल रूप में यह संबंध परिवर्तित होता रहता है। साहित्य और समाज के इस संबंध के पक्ष युग सापेक्ष होते हैं। हम इतिहास के पन्नों में पाते हैं कि समाज और साहित्य का जो

संबंध दसवीं से 14 वीं शताब्दी तक रहा वह 15 सौ से 17 सौ के बीच बदल गया और 17 सौ से भारतेन्दु काल तक उसका रूप बिल्कुल दूसरा ही दिखाई देता है। "इन युगों की प्रवृत्तियां इसका प्रमाण है, फिर भी युग प्रवृत्तियों में एक युग से दूसरे युग में एक अन्तः सलिला अन्वेषित की गयी हैं।"[48] हिन्दी साहित्य के आकाश में भारतेन्दु बाबू एक युग प्रवर्तक के रूप में अवतरित होते हैं, "जिन्होंने समाज के अछूते पक्षों की ओर दृकपात किया, जिससे रीतिकाल की काव्य रूढ़ियों में कुछ हलचल हुई।"[49] इस प्रकार विषयान्तर प्रोत्साहित हुआ, तथा अभिव्यंजना में भी स्फूर्ति और चमक आयी। गद्य सशक्त हुआ और समाज संवेदना का आश्लेष प्राप्त किया। इससे "उनके (भारतेन्दु) युगीन कवियों और गद्य लेखकों का हौसला बढ़ा। वे समाजोनमुख हुए।"[50] रचनाओं में स्पष्टतः परिवर्तन झांकने लगा। समाज में फैली कुरीतियों पर उनकी बक्र दृष्टि पड़ी। समकालीन पत्र-पत्रिकाओं ने इस दिशा में पूर्ण सहयोग किया और लगा कि साहित्य में एक नयी चमक आने लगी है। फिर भी काव्य रीतिकालीन प्रवृत्तियों से पूर्णतः मुक्त न हो सकता।" इस समय सरस्वती साहित्य की एक प्रकार से मुख पत्रिका थी और उसकी बागडोर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के हाथों में थी।"[51]

द्विवेदी जी साहित्य में व्याकरण को लेकर अत्यंत कठोर थे उनकी इस कठोरता का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि काव्य में इतिवृत्तामकता का असर बढ़ने लगा। "इतिवृत्तों में सामाजिक अभिलक्षणाओं के बावजूद उसमें सधता का अभाव अखरता था, रस के इस प्रवाह को न तो अवसर मिल रहा था और न नियत दिशा ही। 'इदम' के इस पटपरपन को अहं की विशेष शक्ति सहन न कर सकी"[52] और इसकी पूर्ति स्वरूप छायावाद अवतरित हुआ। छायावाद को शीघ्र ही भूमि मिल गयी और उसे पाश्चात्य साहित्य से तथा रवीन्द्र साहित्य से उर्वर प्रेरणा मिली। महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रदेशों में भी छायावाद को स्थान मिला। देश की तत्कालीन परिस्थितियों ने भी कवि की आत्मकेन्द्रीकरण की वृत्ति को तीव्रता से प्रोत्साहन दिया। इससे दमित इच्छाएं फूट पड़ीं। दृप्त प्रेम की कातरता के साथ-साथ तलवर्ती निराशा और अवसादों की गूंज भी सुन पड़ने लगी। जिसकी खूब असहिष्णुतापूर्ण आलोचना हुई। छायावाद पर पलायनवादी और देश समाज के प्रति उदासीन होने का आरोप लगाया जाता है यह आक्षेप निराधार है कि छायावाद ने समाज के प्रति उपेक्षा का भाव दिखलाया। हिन्दी साहित्य में छायावाद एक नवीन साहित्यिक शैली के रूप में आया जिसका उन्मेष गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से दिखाई देता है। इस युग में 'कामायनी' राम की शक्तिपूजा और तुलसीदास जैसी रचनाओं का सृजन हुआ तथा वहीं गद्य में कंकाल, तितली, चतुरी चमार 'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त' ध्रुवस्वामिनी जैसी उत्कृष्ट रचनाएं अस्तित्व में आयी। अतः छायावाद को सामाजिक दृष्टि से विमुख और निष्पन्द कहना उसके साहित्यिक और सामाजिक मूल्यों के प्रति छायावाद के साथ अन्याय करना ही होगा। "विश्व के किसी भी साहित्य का जन्म उस देश के समाज की आवश्यकता का प्रतिफल है।"[53]

अतः यह निष्कर्ष औचित्य विहीन नहीं है कि "छायावादी कवियों की वैयक्तिक कही जाने वाली रचनाओं में भी सामाजिक रूढ़ बन्धनों के प्रति कवियों की करूण विवशता एवं आक्रोश की भावना प्रकट हुई है, प्राकारान्तर से वह युगीन समाज की कठोरता, अपिरवर्तनशीलता के विपरीत एक उदात्त एवं सक्रिय परिवर्तनवादी दृष्टिकोण है इनमें भारत के नवोदित सांस्कृतिक जागरण का स्वर सर्वत्र सुनायी देता है"[54] कुछ इनी-गिनी रचनाओं को छोड़ दे तो छायावादी साहित्य को पलायनवादी या समाज विमुख ठहराना अनुचित प्रतीत होता है। "वस्तुतः छायावादी कवियों में सामाजिक उत्कर्ष और नव्यता की उतनी ही उत्कट ललक है जितनी भारतेन्दु या द्विवेदी युग के साहित्यकारों में।"[55]

छायावाद की नवीन काव्य चेतना में प्रेम, सौन्दर्य तथा नारी के प्रति सदियों से चली आ रही धारणाओं को बदलने का अभूतपूर्व कार्य किया। छायावाद को नवीन जीवन दृष्टि और आधुनिक बोध प्रदान करने का भी श्रेय है। छायावाद के उपरान्त या यूँ कहें कि छायावाद के उत्तरार्द्ध में ही प्रगतिवाद का बीजारोपण होता है। ये दोनों धाराएं समसामयिक सी रही। "सुधार और क्रांति दोनों काव्यधाराओं का लक्ष्य रहा। छायावादी कवि ने प्रेम और सौन्दर्य की वीथियों में घूमकर सांस्कृतिक और आधारिणक मूल्यों की झांकी दी, किन्तु, प्रगतिवादी कवि अर्थपरक विलासों और अभावों की आक्रोशमय नाप जोख करता रहा। एक ने स्वछन्दता से शक्ति संचित की और दूसरे ने पश्चिम में जन्में हुए भौतिक अर्थवाद की अनुगतिकता में अपने अहम को संजोया। एक के अहं में वैयक्तिक दृष्टि का प्राधिपत्य था और दूसरे के अहं में दलगत अहं की चमक-दमक थी। एक की अभिव्यक्ति शिष्ट और दूसरे की गाली गलौच की सीमा तक पहुंचने वाली थी।"[56] प्रगतिवाद जो नहीं है उस आदर्श की कभी चिन्ता नहीं करता और जो है उसकी उपेक्षा नहीं करता। कुछ लोग छायावाद पर समाज की उपेक्षा का आरोप लगाते हैं, किन्तु निराला की 'सरोज स्मृति' और 'कुकरमुत्ता' को कौन नकार सकता है क्या यह रचनाएं प्रगतिवादी नहीं है? जो लोग प्रगतिवाद को छायावाद की प्रतिक्रिया मानते हैं मैं उनसे सहमत नहीं हूँ "वास्तव में छायावाद और प्रगतिवाद सामाजिक लक्ष्य साधन के दो पृथक दृष्टिकोण है एक भाववादी दूसरा वस्तुवादी : एक आदर्शवादी दूसरा यथार्थवादी, एक अहंवादी दूसरी इदवादी।"[57]

डॉ. गायत्री वैश्य ने हिन्दी साहित्य के सौ वर्षों को पाँच युगों में विभाजित किया है जिसके अनुसार हिन्दी काव्य की विभिन्न धाराओं को आसानी से समझा जा सकता है। "आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज" ग्रंथ में डॉ. गायत्री वैश्य का विभाजन सर्वथा उपयुक्त है। उन्होंने 1850-1900 तक काव्य को जागरण युग, 1900 से 1920 तक के काव्य को सुधार युग, 1920 से 1940 तक के काव्य को परिवर्तन युग, 1940 से 1950 तक के काव्य को प्रयोग युग, की संज्ञा दी है।

हिन्दी साहित्य में सामाजिक चेतना का आरम्भ तो भारतेन्दु युग से जाता है और क्रमशः उसके पश्चात् के साहित्य में वह निरंतर आगे बढ़ी है। भारत के सामाजिक, धार्मिक क्षेत्रों में जिस क्रांति का प्रादुर्भाव हुआ, उसकी प्रेरक शक्तियां निम्न है -

1. ब्रह्म समाज - राजाराम मोहन राय
2. आर्य समाज - स्वामी दयानंद
3. प्रार्थना समाज - केशवचन्द्र सेन
4. रामकृष्ण मिशन स्वामी रामकृष्ण, विवेकानंद
5. थियोसोफीकल सोसायटी

आधुनिकीकरण की उपर्युक्त प्रबल शक्तियों से साहित्य क्षेत्र में नई विचारधारा उद्‌भूत हुई। युग के व्यापक समाज से साहित्य और समाज की दिशा बदलने लगी। पुराने विषय और सिद्धान्त क्रमशः बदलने लगे और भारतीय समाज में सुधार और नवीन चेतना के युग ने पैर जमाने आरम्भ किये। 1920 से 1940 के हिन्दी साहित्य में जो परिवर्तन के स्तर प्रबल होते हैं, उसके लिए युगीन परिस्थिति के प्रभाव के साथ निम्न प्रेरक तत्वों ने भी महती भूमिका निभाई। 19वीं शताब्दी में जबकि समाज में चहुँओर जाग्रति और चेतना की लहर फैल रही थी लोगों का ध्यान सामाजिक धार्मिक तथा नैतिक मर्यादा की ओर अधिक था। परिवर्तनयुगीन काव्य के प्रेरक तत्वों में ललित कलाओं का पुनरूत्थान, नवीन दार्शनिक चेतना, अंग्रेजी रोमेण्टिसिज्म, प्रकृति के प्रति प्रेम, निराशा और वेदना की अभिव्यक्ति प्रेम की स्वच्छंद प्रतिष्ठा,स्थूल धर्म एवं नीतियों के प्रति विद्रोह, सांस्कृतिक सुधार, दुख की उदात्त व्याख्या, जीवन के प्रति नवीन दर्शन, पुरातन के प्रति अश्रद्धा प्रमुख है।

1935 के पश्चात् हिन्दी साहित्य में पुनः नवीन विचारधारा का सूत्रपात हुआ। जिसने पूर्ववर्ती काव्य धारा के कल्पित सामाजिक आदर्शों एवं व्यक्तिमन के सौन्दर्योद्‌घाटन द्वारा नयी समाज रचना के लक्ष्य से भिन्न जीवन की यथार्थता की ओर आकृष्ट किया। इस समय से काव्य में ऐसी रचनाओं का प्राधान्य हो गया जो महाक्रांति, प्रलय, और विध्वंस की भावनाओं से भरी थी। इस काल की रचनाओं में तत्कालीन अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक ढांचे के प्रतिद्वेष और घृणा की भावना व्याप्त थी। जो नया संसार बसाने के लिए बैचेन दिखाई देती है। इसी युग में मार्क्सवाद का उदय होता है। असल में यह साहित्य मार्क्सवादी साहित्य अधिक है। शुद्ध साहित्य की अपेक्षा।

साहित्य एक स्थान या प्रवृत्ति पर स्थिर नहीं रहता। उसका स्वरूप समय अनुसार बनता बिगड़ता रहता है। चूँकि मनुष्य की अनुभूतियों और विचारधाराओं में निरंतर परिवर्तन होता रहता है। इसलिए समय सापेक्ष साहित्य का परिवर्तित होना आवश्यक है नये सन्दर्भ नये मूल्य, नयी भाषा इन सभी इन सभी का साहित्य में प्रवेश करना स्वाभाविक है।''[58] हिन्दी साहित्य में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता और अकविता मनुष्य की अनुभूतियों और विचारधाराओं में निरंतर परिवर्तन का ही परिणाम है। 1936 में छायावाद की समाप्ति के उपरांत साहित्य में समाज चेतना का आरम्भ होता है और क्रमशः प्रगतिवाद प्रयोगवाद, नयी कविता और अकविता तक यह धारा प्रवाहित होती है। स्वातंत्रोत्तर हिन्दी साहित्य में सामाजिक विघटन और प्रतिरोध की

व्यवस्था का राजनीतिक खोखलापन अधिक दिखाई देता है। नयी कविताकी प्रवृति उपयुक्त परिस्थितियों से काफी कुछ मेल खाती है नयी कविता ने अपने नयेपन के साथ नये भाव बोध को ग्रहण किया। नयी कविता अपने आसपास के परिवेश को उसकी यथार्थता में ग्रहण करती है। नयी कविता यथातथ्य अभिव्यक्ति के लिए प्रयासशील रही है। अतः नयी कविता का यथार्थ जीवन को उसके समग्र रूप में देखने में निहित है। "मनुष्य जैसा है, सुख-दुख, जय-पराजय, हास-विलास, सृजन और संघर्ष आदि समस्त क्रिया व्यापारों में उसकी जो मूर्ति उभरती है नयी कविता उस संपूर्ण संभावित मानव मूर्ति को चित्रित करना चाहती है। नयी कविता का कवि जीवन को इसी व्यापक धरातल पर ग्रहण करता है और भोगे गये क्षणों की यथार्थ अनुभूति के आधार पर उसके खंड रूपों की सार्थक अभिव्यक्ति करता है।"[59]

लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा है जब हम मनुष्य के रूप में ग्रहण करने की चेष्टा करेंगे तो निश्चय ही हमारी दृष्टि में सुपरमैन या अधिनायक का रूप न आकर उस व्यक्ति का रूप आयेगा जो अपनी लघुता के लिये हुए अपने लघु परिवेश में सतत गतिशीलता के साथ अपनी दृष्टि और वाणी में आज भी अपने प्रति आस्था जीवित रखे हैं।" नयी कविता इसी का प्रतिनिधित्व करती है।

अतः हिन्दी साहित्य के अध्ययन में सामाजिक चेतना और साहित्य का जो सूक्ष्म बीजारोपण भारतेन्दु युग से आरम्भ होता है वह निरंतर आगे बढ़ता जाता दिखाई देता है। छायावाद में भी यह चेतना विद्रोह और स्वच्छंदता के रूप में विद्यमान है। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता तो सामाजिक चेतना का पर्याय है। इस तरह बीसवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य भारतीय समाज के विकासमान जागरूकता का दस्तावेज है।

निष्कर्ष

उन्नीसवीं सदी के भारतीय समाज के उत्थान के इतिहास का पृष्ठ-पृष्ठ बतलाता है कि जब यूरोप वाले भारत में आये तब यहां के धर्म, संस्कृति और साहित्य पर रूढ़ि की पर्तें जमी हुई थी एवं यूरोप के मुकाबले में उठने के लिए यह आवश्यक हो गया था कि ये पर्तें उखाड़ फेंकी जायें और भारतीय समाज को अंग्रेजों से मुक्ति के लिए उठ खड़ा किया जाय। इस उत्थान में भारतीय धर्म, दर्शन और साहित्य की दिशाएं बदली और भारत में सर्वत्र चेतना का माहौल गरम हुआ, परम्पराओं रूढ़ियों और पुरातनता की बेढ़ियां टूटी और समाज में नयी चेतना ने जन्म लिया। सर्वत्र हो रही क्रांति से साहित्य कैसे अछूता रह सकता था, साहित्य भी अपनी रीतिकाल दैहिक वासनाओं से द्दटपटाकर समाज के साथ हो गया। उसने पहली बार समाज से एकाकार किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र युग प्रर्वतक के रूप में हिन्दी साहित्य में अवतरित हुए जिन्होंने समाज के अछूते पक्षों की ओर दृष्टिपात किया और हिन्दी साहित्य में सामाजिक चेतना का आरम्भ हुआ गद्य और पद्य दोनों ने समाज संवेदना को मुखरित करना आरम्भ किया। साहित्य में एक नयी स्फूर्ति और चमक आने लगी। जिसने साहित्य को समाज के करीब लाकर खड़ा कर दिया।

डॉ. रामरतन भटनागर ने लिखा है, "साहित्य संस्कृति की देन है। वह उसी का अनिवार्य पक्ष है जो अपने भीतर सर्जना के अन्य भाषणों की शैलियों और भूमिकाओं को भी आत्मसात करता रहा है। उसमें विचार, भावना, कल्पना, अतीन्द्रय चेतना तथा अपरोक्ष के सभी आयाम सिमट आते हैं।" व्यक्ति, वर्ग और समाज की त्रिमूर्ति ही साहित्य के रूप में प्रकट होती है।

साहित्य और समाज दो महत्वपूर्ण इकाईयाँ हैं और इन दोनों की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया का मानव संवेदना और चेतना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आधुनिक हिन्दी साहित्य इसका सशक्त प्रमाण है। साहित्य से हमारा तात्पर्य उस कलात्मक चेतना से है जो वाणी के द्वारा अभिव्यक्ति और आकार ग्रहण करती है और जिसमें भावसत्य और वस्तुसत्य दोनों को समान रूप से स्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार मनुष्य के भीतर बाहर का समस्त प्रसार साहित्य की प्रेरणा बन जाता है। सच तो यह है कि समाज और साहित्य दो भिन्न वस्तुएँ हैं ही नहीं, क्योंकि कवि अथवा साहित्यकार के द्वारा दोनों एक सूत्र में बंध जाते हैं साहित्य समाज का दर्पण हैं' कहने से यही अभिप्राय है कि साहित्य समाज से उत्पन्न विचार रखना, अंतप्रेरणा तथा संवेदना अनायास ही स्थान ही पा जाते हैं 'साहित्य चेतना की विशिष्टता के कारण सांस्कृतिक संदर्भों को भेद कर अपने स्वतंत्र और परिपूर्ण जीवन का आग्रही होता है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि "जल में पड़े स्पंज की भांति साहित्य समाज" के सम्पूर्ण परिवेश को सोख लेता है और यही जल सामाजिक चेतना के रूप में प्रकट होता है, अतः हम कह सकते हैं कि सामाजिक चेतना और साहित्य का संबंध अभिन्न है अटूट है। सामाजिक चेतना के अभाव में साहित्य के प्रति वैसे ही होता है जैसे रोशनी के प्रति अंधत्व।

अतः सामाजिक चेतना और समाज के बदलते मानदण्डों के अनुरूप परिवर्तित होती है। इस बदलते हुए समाज की प्रतिध्वनि को साहित्यकारों ने बखूबी पहचाना है और इसलिए उनकी रचनाओं में जिस समाज के दर्शन होते हैं उसमें परिवर्तन की यह धारा सतत् प्रवाहमान होती दिखाई देती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची -

1. *हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना/10/11/ रत्नाकर पाण्डेय*
2. *" " वही/11/ "*
3. *साहित्य सहचर/हजारी प्रसाद द्विवेदी/पृ. 13*
4. *" " वही/ "*
5. *हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना/रत्नाकर पाण्डेय/154-55*
6. *" " वही /पृ. 155*
7. *" " वही /पृ. 155-156*
8. *" " वही /पृ. 157*
9. *रांगेय राघव के उपन्यासों में युग चेतना/डॉ. प्रभुलाल डी. वैश्य/27*

10. भगवती चरण वर्मा के उपन्यासों में युग चेतना/डॉ. बैजनाथ प्रसाद शुक्ल/पृ.9
11. डॉ. प्रभुलाल डी. वैश्य/रांगेय राघव के उपन्यासों में युग चेतना/14
12. साहित्य की सामाजिक भूमिका/41/देवेश ठाकुर
13. साठोत्तर हिन्दी नाटकों की सामाजिक चेतना/डॉ. जयश्री शुक्ला/पृ.12-13
14. समाजोन्मुख यथार्थवादी काव्य/डॉ. रमाकांत शर्मा/61
15. साहित्य निबंध प्रगतिशील साहित्य/रामविलास शर्मा/495
16. ‘‘ ‘‘ वही
17. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर सप्तम संस्कार/सं. रामचंद्र वर्मा/330
18. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा/हिन्दी साहित्य कोश प्रथम/1958/पृ. 289
19. ‘‘ ‘‘ वही
20. हिन्दी विश्व कोश खण्ड-4/सं. रामप्रसाद त्रिपाठी पृ./282
21. एपी शैप्टुलिन/मार्क्सिस्ट लेमिनिस्ट फिलास्फी पृ. 140
22. ‘‘ ‘‘ वही
23. आधुनिक साहित्य/नंददुलारे वाजपेयी/21/30
24. ‘‘ ‘‘ वही/
25. छायावादोत्तर हिन्दी काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि/पृ./147
26. प्रयोगवाद नयी कविता ओर अकविता/.... भूमिका सुरेन्द्र विक्रम
27. ‘‘ ‘‘ वही/
28. आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज/गायत्री वैश्य भूमिका
29. ‘‘ ‘‘ वही/
30. ‘‘ ‘‘ वही/
31. ‘‘ ‘‘ वही/
32. छायावादोत्तर हिन्दी काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि/कमला प्रसाद/15
33. ‘‘ ‘‘ वही/16
34. ‘‘ ‘‘ वही/20
35. साहित्य और सर्जना/डॉ. रामरतन भटनागर पृ0/1,2,3
36. आधुनिक हिन्दी साहित्य की मानवतावादी भूमिकाएं/देवेश ठाकुर/109, से 115 तक
37. साहित्य का परिवेश/अद्वैत/पृ. 33-13
38. भाषा साहित्य और देश/हजारी प्रसाद द्विवेदी/53, 60, 64,78,99,108,115,
39. सामाजिक यथार्थ और कथा भाषा/से अज्ञेय/9, 28,46,102
40. संस्कृति के चार अध्याय/दिनकर/531
41. हिन्दी साहित्य की भूमिका/हजारी प्रसाद द्विवेदी
42. साठोत्तर हिन्दी नाटकों की सामाजिक चेतना/जय श्री शुक्ला/9, 27, 28, 29
43. आधुनिक हिन्द साहित्य/अज्ञेय/124
44. साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य/रघुवंश/167
45. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन/167
46. साहित्य शास्त्र/रामकुमार वर्मा/72

47. साहित्य की सामाजिक भूमिका/देवेश ठाकुर/26
48. आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज/डॉ. गायत्री वैश्य/भूमिका
49. ‘‘ ‘‘ वही/
50. ‘‘ ‘‘ वही/
51. ‘‘ ‘‘ वही/
52. ‘‘ ‘‘ वही/
53. संस्कृति के चार अध्याय/दिनकर/उपसंहार
54. ‘‘ ‘‘ वही/
55. आधुनिक हिन्दी साहित्य/अज्ञेय/124
56. आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज/गायत्री वैश्य/भूमिका
57. ‘‘ ‘‘ वही/
58. साहित्य की सामाजिक भूमिका/देवेश ठाकुर/27
59. ‘‘ ‘‘ वही/

◆◆◆

5

रचना, व्यक्ति और समाज

- साहित्य और जीवन
- रचना का परिवेश
- रचनाकार का समाज
- अनुभूति और अभिव्यक्ति
- रचना में आत्माभिव्यक्ति
- रचना और सृजनात्मकता
- साहित्य में सामाज़िक मूल्य
- रचना और बाह्‌य संसार
- निष्कर्ष

रचना का कर्म अपनी भावनाओं में अपनी प्रेरणा में, अपने आंतरिक संस्कारों में समाज सत्य के मर्म को ढालना उसमें अपने को पाना है और पाने की अपनी पूरी कलात्मक क्षमता से पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त करना है (शमशेर बहादुर सिंह)।

क्रोचे के अनुसार व्यक्ति के मन बाहरी संसार के प्रभाव स्वरूप उत्पन्न अनेक भाव चित्र रहते हैं उसमें अनुभूति की तीव्रता के कुछ क्षण ऐसे आते हैं जब व्यक्ति इन छायाचित्रों को अपने पर प्रकट करने के लिए विवश हो जाता है। व्यक्ति की इसी विवशता में साहित्यक सृजन का मूल प्रेरणा केन्द्र स्थित होता है। जिसके द्वारा रचना में व्यक्ति और व्यक्ति में समाज का रूपांतरण होता है।

इस तरह जब व्यक्ति के चित्त में घूमने वाले छाया चित्रों को अपने पर प्रकट करता है तो मानो आवेगों और आन्दोलनों को बस में कर लेता है।

गहन अनुभूति के क्षणों में हमारी आत्मा और मस्तिष्क में आनंद की प्रसव वेदना अविभूत होती है उसी का उच्छलन रचना होती है साहित्य का मूल धर्म आत्माभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी रचना साहित्य बन पाती है। साहित्य का संबंध दार्शनिक अतिवादों से नहीं बल्कि मानव जीवन से है उसके आसपास से है उसके समाज से है। बाहरी दुनिया, समाज के कुछ प्रभाव घटनाएं या दृश्य जो बहुत गहरे स्तर पर व्यक्ति मन को प्रभावित

करते हैं और अनुभूति के चरम पर पहुंचकर अभिव्यक्ति का माध्यम बनते हैं रचनाकार के मनोहृदय में फिर पुनः प्रविष्ट होता है और अपने अनुभव को मस्तिष्क के साथ विचार स्थिति में रखकर अभिव्यक्त करता है तो वह एक नये रूप में नये अर्थ में रचना में व्यक्ति तथा व्यक्ति में समाज को ध्वनित करती है।

आत्मा की अभिव्यक्ति का माध्यम एक नहीं अनेक हैं किन्तु आत्मा की जो अभिव्यक्ति शब्दा और अर्थ द्वारा होती है उसे साहित्य कहते हैं। आमतौर पर रचना में देखा जाए तो रचनाकार ही आर्थिक दृष्टव्य होता है किन्तु ऐसा नहीं कि उसमें समाज नहीं होता, होता है। व्यक्ति अकेला कोई इकाई नहीं है वह अकेला समाज भी नहीं है तब रचना में व्यक्ति अकेला कैसे हो सकता है। उसके साथ उसका जीवन उसके अनुभव सुख दुख आदि की अनुभूतियां भी संलग्न रहती है जो एक व्यक्ति में ही उसका परिवार, गांव और समाज बसाऐ होती है। यही जीवन का समाज रचनाकार के हृदय को गहरे अनुभूति के धरातल पर प्रभावित करता है जिसके परिणास्वरूप रचना होती है और उस रचनाकार की रचना में हमें रचनाकार से सम्बद्ध उसका समाज, उसकी पड़ताल, उसका अन्वेषण, उसके निष्कर्ष आदि भी दिखाई देते हैं जो इस बात को स्वतः सिद्ध करते हैं कि रचना में होता शामिल एक व्यक्ति ही है किन्तु उस व्यक्ति में समाज आवश्यकतानुसार रचना के द्वारा रूपांतरित होता है, इस तरह एक रचनाकार में रचना के सृजन के मूल में समाज उसका रचनाकार का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और प्राकृतिक समाज रूपांतरित होकर रचना के केन्द्र में उसका विषय बनता है।

अतः रचना में व्यक्ति के द्वारा उसकी चेतना के माध्यम से उसके सम्पूर्ण परिवेश का रूपांतरण होता है अकेला व्यक्ति के साधन के लिए शब्दों के विधान में भी बाहरी समाज के रूपांतरण के बगैर रचना संभव ही नहीं है। मेरे इस अध्याय में इसी बात का विश्लेषण करने का प्रयास किया है।

साहित्य और जीवन

साहित्य और जीवन का संबंध अटूट है अतः साहित्य जीवन से अलग नहीं है। बाबू गुलाब राय लिखते हैं "साहित्य जीवन से भिन्न नहीं है वरन् वह उसका ही मुखरित रूप है। यह जीवन के महासागर से उठी हुई उच्चतम तरंग है। मानव जाति के भावों, विचारों और संकल्पों की आत्मकथा साहित्य के रूप में प्रसारित होती है। वह जीवन का चरम विकास है किन्तु जीवन में बाहर उसका अस्तित्व नहीं साहित्य में पाचन, वृद्धि, गति और पुनरूत्पादन आदि जीवन की सभी क्रियाएँ मिलती है। अंगी अंग से भिन्न गुणों वाला नहीं होता इसलिए जीवन की मूल प्रेरणाएं भी साहित्य की मूल प्रेरक शक्तियां हैं। जो वृत्तियां जीवन की और सब क्रियाओं की मूल स्त्रोत हैं वे ही साहित्य को जन्म देती है।"[1] प्रसिद्ध कथाकार और हिन्दी साहित्य के स्तम्भ 'प्रेमचंद ने साहित्य को जीवन की आलोचना माना है। उन्होंने लिखा है "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें सच्चा चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, जो हम में गति और संघर्ष और बैचेनी पैदा करे।"[2] जिसमें

सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा ही, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो ऐसा साहित्य समाज से, जीवन से अलग कैसे हो सकता है। साहित्य और जीवन एक सिक्के के दो पहलू हैं। हैनरी हडसन के अनुसार साहित्य जीवन के भावों और विचारों को भाषा के द्वारा व्यक्त करने का माध्यम है। 'मैथ्यू आर्नल्ड' के अनुसार "Poetry at botten is a criticism of life" साहित्य और जीवन दोनों का क्षेत्र बहुत व्यापक है, किन्तु मैं कह सकता हूँ साहित्य और जीवन दोनों एक दूसरे में समाहित होते हैं। अतः साहित्य सीधा जीवन से आता है इसीलिए साहित्य में किसी न किसी रूप में जीवन ही व्यक्त होता है। जीवन या समाज से परे साहित्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आध्यात्म, दर्शन, भक्ति, प्रेम, योग कुछ भी जीवन से परे नहीं सब जीवन के ही अंग है। साहित्य प्रत्येक देश के मानव मन के भावों, विचारों और अनुभूतियों का चित्र होता है। अतः प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के समाज और जीवन का दर्पण होता है। हम कह सकते हैं कि साहित्य और कुछ नहीं, जीवन की ही आत्म कहानी है तो अन्यथा न होगा।'' अतः साहित्य की सार्थकता जीवन से अलग रहकर नहीं है। न ही उसकी रचना।

व्यक्ति से समाज निर्मित होता है और समाज में साहित्यकार रहता है, अतः समाज से जीवन से साहित्य का बचकर निकलना संभव नहीं। साहित्यकार भी समाज का एक व्यक्ति है इस प्रकार वह भी उसी समाज के साथ जीवन जीता है जिसमें रहकर वह लिखता है अतः साहित्य में जीवन स्वतः ही अभिव्यक्त हो जाता है।

रचना का परिवेश

''जिस प्रकार व्यक्ति अपने इतिहास का निर्माण उसी परिवेश विशेष में करता है जिसमें वह रहता है अथवा जिससे वह प्रतिबद्ध है, उसी प्रकार साहित्य की रचना भी रचनाकार के परिवेश में ही रूपाकार ग्रहण करती है।''[3] रचना के समय के परिवेश की सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक, धार्मिक स्थितियों तथा उसमें मान्य सांस्कृतिक और दार्शनिक सिद्धांतों के साथ-साथ रचनाकार के परिवेश की आर्थिक परिस्थितियाँ भी रचना को प्रभावित करती हैं इनका सबका मिला जुला प्रभाव रचनाकार के मनोमस्तिष्क पर पड़ता है और वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच जाता है जहां रचनाकार संवेदनशील होकर उस समग्र प्रभाव को किसी न किसी रूप में व्यक्त करने के लिए विवश हो जाता है। यहां यह बात महत्वपूर्ण है कि रचना परिवेश और काल के धरातल पर रचित जरूर होती है किन्तु वह परिवेश ओर काल की ही वस्तु नहीं होती अपितु वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक भी हो सकती है।

रचनाकार सावधान और संवेदनशील होता है। उसकी संवेदनशीलता सामान्य व्यक्ति से व्यापक होती है वह अपने समस्त परिवेश से लगातार जुड़ा रहता है जिसमें वह रहता है रचनाकार केवल अपने तक सीमित नहीं होता उसका कल्पित संसार और स्थूल संसार दोनों से घनिष्ठ संबंध होता है। इस तरह वह समाज तथा प्रकृति के सम्पूर्ण परिवेश से रचना की सामग्री का रूपांतरण करता है।

रचनाकार का समाज

समाज एक व्यापक इकाई है। जिसमें रचनाकार जीता है। लेकिन यह इकाई अनेक वर्गों में विभाजित रहती है। रचनाकार भी समाज के किसी वर्ग से सम्बद्ध होता है। "उस वर्ग विशेष की विशिष्टता, न्यूनताएं, परम्पराएं, रूढ़ियां, विश्वास प्रचलन उसे निरन्तर प्रभावित करते चलते हैं।"[4] इन सब से रचनाकार की मानसिकता का निर्माण होता है "इससे उसकी दृष्टि एक निश्चित आकार ग्रहण करती है।"[5] रचनाकार के परिवार का भी उस पर भी काफी प्रभाव पड़ता है। अतः रचनाकार भी उस समाज का अभिन्न अंग होता है जिसमें रहकर वह आरम्भ से लेकर अंत तक जीवन जीता है इस अर्थ में केवल लेखक ही समाज को उसकी अच्छाईयों-बुराईयों को समझता है समाज में उसके साथ जीतने वाले सभी लोग अपने समय के समाज से पूर्णतः परिचित होते हैं न ही लेखक या रचनाकार समाज को उसकी पूरी संवेदना के साथ आत्मसात कर अभिव्यक्त करता है इसलिए रचनाकार की अनुभूति पुनः समाज में प्रसारित होती है। रचनाकार केवल निजी अनुभवों को ही आत्मसात नहीं करता बल्कि वह दूसरे लोगों के अनुभवों को भी अपने भीतर समेटता है और अभिव्यक्त करता है ये अनुभव ही उसकी रचना और संवेदना को समाज से जोड़कर समृद्ध बनाते हैं। अतः मैं कह सकता हूँ कि रचनाकार अपने समाज को ही रचना में अपनी कल्पना और बुद्धि के संयोग से उद्घाटित करता है। रचना का परिवेश वह समाज है जिसमें, जिसके साथ रचनाकार जीता है और जिससे वह प्रभावित होता है।" जिसके दबाबों तनावों के बीच उसकी सृजनात्मक प्रवृतियां रूप लेती हैं, पनपती है और विकसित होती है।"[6] रचनाकार के समय का समस्त राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक परिवेश भी रचना को किसी न किसी रूप में प्रभावित करता है इसके साथ-साथ शिक्षा, इतिहास, दर्शन भाषा आदि भी परिवेश के मुख्य अंग होते हैं जो रचना को भी प्रभावित करते हैं।

"रचनाकार जिस संस्कृति में जीता है उस का विश्व दर्शन भी उसके परिवेश का एक अंग होता है।"[7] क्योंकि वह उसकी मानसिकता को बनाता है, वह रचना का ढांचा खड़ा करता है जिसके भीतर उसके मनोभावों का पात प्रतिघात एक ऐसा तनाव पैदा करता है जो रचना की सर्जना का कारण बनता है समाज और उसके परिवेश के सभी प्रभाव रचनाकार द्वारा रचना में व्यक्त हो जरूरी नहीं वे अदृश्य रूप में भी काम करते रहते हैं और रचना को परिवेश की ध्वनि से परिपूर्ण करते हैं हम परिवेश को रचना में व्यक्त होने तक ही सीमित नहीं रख सकते क्योंकि समाज के परिवेश की बहुत सी बातें सिर्फ अनुभूति तक ही अनुभूत होती हैं और उसी रूप में रचना में व्यक्त होती हैं किन्तु उनकी उपस्थिति का संकेत रचना में प्रतिष्ठित रहता है। रचना में व्यक्त और अव्यक्त परिवेश अलग-अलग ढंग से कार्य करते हैं और उनकी क्रियाशीलता के क्षेत्र और उन की विधियों को समझ लेने पर पूरे परिवेश के साथ रचनाकार का संबंध एक नया रूप ले

लेता है। और नवीन आधारभूमि पर स्थापित हो जाता है। एक बात में स्पष्टतः कह सकता हूँ कि जहां तक रचना कर्म का सवाल है हमारे परिवेश की चेतना एकायिक स्तरों पर सक्रिय होती है इन क्रियाओं को समझना ही सही मायने में परिवेश को समझना है।

रचना के परिवेश के अन्तर्गत समाज के साथ-साथ प्राकृतिक परिवेश भी सम्मिलित होता है प्राकृतिक परिवेश से मनुष्य के संबंध का विस्तार से विचार हुआ है। पश्चिम की चिन्तन परम्परा और उन्नीसवीं सदी तक का तथाकथित वैज्ञानिक चिन्तन जिसने मनुष्य और प्रकृति के बीच विरोध का ही संबंध देखा, यह चिंतन हमें जिस विनाश के कगार पर ले आया उसे आज सभी देख रहे हैं। प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश के साथ भाषिक परिवेश भी रचना में प्रमुख रूप से ध्वनित होता है भाषिक परिवेश अपनी बहु आयामी कठिनाइयों के साथ रचना कर्म से जुड़ा हुआ है और रचनाकार को अन्य परिवेशों से गहराई के साथ व्यक्त करने में सहायता करता है अतः रचना में रचनाकार की अनुभूतियों के द्वारा सम्पूर्ण समाज का परिवेश अभिव्यक्ति की आधार सामग्री है जिसके अभाव में रचना संभव ही नहीं है।

अनुभूति और अभिव्यक्ति

"आलोचक की आस्था" ग्रंथ में डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है "साहित्य को आत्माभिव्यक्ति मानने का अर्थ ही यह है कि यह जीवन की अभिव्यक्ति है विज्ञान, दर्शन, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि द्वारा व्याख्या जीवन की नहीं वरन् साहित्यकार के आत्म अनुभूत दूसरे शब्दों में आत्मसात जीवन की अभिव्यक्ति"[8] रचनाकार दृष्टा सृष्टा और भोक्ता तीनों होता है वह अंतः और बाह्य परिवेश समाज में जो देखता है अनुभूत करता है, उसे ही रचना के रूप में रूपांतरित करता है। हिन्दी साहित्य के प्रख्यात आलोचक आचार्य 'रामचन्द्र शुक्ल' के अनुसार "रचनाकार की अनुभूति सबकी अनुभूति होती है।" रचनाकार अपने स्व में समस्त समाज की अनुभूतियों को अनुभूत करता है इस तरह वह अपने परिवेश के साथ एकाकार होता है "जिस प्रकार जगत अनेक रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है इस अनेक भावों के व्यायाम और परिष्कार के द्वारा समाज के भिन्न-भिन्न रूपों व्यापारों तथा तथ्यों की अनुभूति को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है।"[9]

रचनाकार के हृदय का संसार के साथ जितना गहरा संबंध होगा रचना में उतनी ही गहराई से अनुभूति अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्फुटित होगी। इस तरह रचनाकार की अनुभूतियों के द्वारा बाह्य संसार अनेक रूपों रंगों में अभिव्यक्त होता है रचनाकार जीवन और जगत की अनुभूतियों को पहले हृदय में सृजित करता है फिर इस विश्व के प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष तथ्यों को भावनाओं के विषय बनाकर उन्हीं मूल रूपों व्यापारों में परिणत कर अभिव्यक्त करता है। रचनाकर ही विचारों अनुभूतियों की छुपी हुई शक्ति को केन्द्रस्थ कर उसे कार्यरूप में रचना के माध्यम से प्रकट करता है "रचनाकार समाज में रहकर ही अपनी रचनाओं की सामग्री ग्रहण करता है अपने जीवन के प्रत्येक अंश में वह जो कुछ देखता

है, सुनता है, जीता है ओर इन सबसे जो अनुभूत करता है उससे उसकी एक धारणा निर्मित होती है जो अभिव्यक्ति का कारण बनती है।"[10] रचनाकार का संवेदनशील हृदय उसके विस्मय, प्रेम और कल्पना के संसार की प्रत्येक वस्तु की अनुभूति के साथ अपना संबंध अनुभव करता है। समाज के सन्दर्भ उसकी नियति, स्थिति उसकी भयावहता उसका सौन्दर्य, प्रेम, दुख, हर्ष और बदलाव भी अनुभूति के स्तर पर रचनाकार के लिए उसके हृदय की अभिव्यक्ति का विषय बनते हैं। एक ओर रचना अपने समय के सामाजिक प्रभाव को ग्रहण करती है। तो दूसरी ओर समाज को प्रभावित भी करती है।

रचना पहले घटना होती है वह रचनाकार के मनोजगत में प्रभावशाली रूप में अंकित होकर रचनाकार की अनुभूति में और सहयोगी अनुभूतियों के साथ अभिव्यक्ति कर कारण बनती है प्रत्येक रचनाकार की अनुभूति का समाज रचनाकार के समाज से प्रभावित होकर ही अभिव्यक्त होता है। इसका कारण उसके आस-पास के सम्पूर्ण समाज और परिवेश का उसके प्रति किया गया बर्ताव प्रमुख रूप से उत्तरदायी होता है। रचनाकार को अपने हृदय की अनुभूति के सन्दर्भों के समाज से परहेज कर अभिव्यक्ति करना संभव नहीं है। अतः अनुभूति से अभिव्यक्ति जन्म लेती है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय की अनुभूति का समाज भिन्न होता है इसीलिए एक ही बात को विभिन्न रचनाकार अपनी-अपनी निजी अनुभूति के द्वारा व्यक्त करते हैं जिससे किसी की अभिव्यक्ति प्रभावोत्पादक अधिक होती है किसी की कम।

रचनाकार के जीवन के उतार-चढ़ाव उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति के मील का पत्थर होते हैं। जो रचना में उसके द्वारा प्रसारित होते हैं। अनुभूति के बाहृय प्रस्फुटन के लिये रचनाकार में एक प्रकार की प्रसव वेदना होती है जिसे आनंद की संज्ञा दी गई है। यही रचनाकार के भीतर बाहृय समाज के रूपांतरण की दशा होती है रचना की अभिव्यक्ति के समय ही व्यक्ति के हृदय में अनुभूतियां बाहृय समाज के रूप में तरंगायित होती है साहित्य का जन्म पूर्णरूपेण समाज से ही संबंध रखता है सामाजिक संदर्भों से ही रचनाकार के हृदय में जो अनुभव और घटनाएं संकलित हो जाती हैं वही साहित्य का रचना आधार ग्रहण करती है। समाज से उसकी घटनाओं से, अनुभूतियों से दूर रहकर रचना की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। रचना के लिए रचनाकार का समाज दृष्टा के साथ-साथ समाज का भोक्ता होना भी आवश्यक है और यही स्थिति उसे समाज की वास्तविकताओं, सूक्ष्म संवेदनाओं और रहस्यों को समझने में सहायक होती है। जिसके फलस्वरूप उसकी बुद्धि और ज्ञान संपादित, संशोधित होते रहते हैं। और समाज अनुभूतियों के द्वारा रचना में दर्ज होता रहता है। रचनाकार अपने अनुभूतियों के चेतन प्रतिबिम्ब रचना में उद्घाटित करता है। 'डॉ. नगेन्द्र' के अनुसार "साहित्य मानव चेतन की जीवित प्रतिक्रिया है अतः वह समाज का प्रतिबिम्ब मात्र प्रस्तुत नहीं करता वरन् उसकी विवेचना करता है।"[11] अदोल्फो संकेत के अनुसार "महानकला मानवजीवन की सार्वभौम सत्ता की प्रतिष्ठा करती है।"[12]

"रचना (साहित्य) और समाज दो महत्वपूर्ण इकाईयां है। और इन दोनों की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया का मानव संवेदना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है।" रचना व्यक्ति की वह कलात्मक चेतना है जो शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त होकर आकार ग्रहण करती है और जिसमें भावसत्य और वस्तुसत्य दोनों को समान रूप से स्थान प्राप्त होता है। इस तरह व्यक्ति या रचनाकार के भीतर की समस्त अनुभूतियां रचना की प्रेरणा बन जाती है।

अनुभूति अभिव्यक्ति और सन्दर्भ अलग-अलग क्रियाएं हैं किन्तु इनका एक दूसरे से अभिन्न संबंध है जो कभी टूट ही नहीं सकता। इस संबंध के अभाव में रचना का प्रावधान संभव नहीं। ये तीनों तत्व रचनाकार के व्यक्तित्व के द्वारा एक सूत्र में बंध जाते हैं। वस्तु जगत या संदर्भ जगत क्षण-क्षण रचनाकार का भाव जगत बनता जाता है। जो विभिन्न प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्ति के माध्यम से रचना में उदभूत होता है और अनुभूति को साकार करने की, व्यंजित करने की कोशिश करता है। जैसे निराला की 'सरोज स्मृति' में कवि का वस्तु जगत भाव जगत बनकर अभिव्यक्त हुआ है।

रचना में आत्माभिव्यक्ति

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार साहित्य का मूल धर्म आत्माभिव्यक्ति है। "आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्व है जिसके कारण कोई रचनाकार और उसकी रचना साहित्य बन पाती है।"[13] सीधी सी बात है साहित्य का संबंध दार्शनिक अतिवादों से नहीं है, साहित्य का संबंध सीधा जीवन से है। आत्माभिव्यक्ति अनेक रूपों में व्यक्त होती है इसमें आत्म की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के माध्यम से व्यक्त होती है उसे साहित्य कहते हैं। रचनाकार भी एक व्यक्ति होता है जब वह व्यक्ति अपने अनुभवों को शब्द और अर्थ के द्वारा अभिव्यक्त करता है तो वह साहित्य का निर्माण करता है। इसमें अनुभूति, शब्द और अर्थ का संबंध अनिवार्य और प्रमुख होता है।

रचनाकार को आत्माभिव्यक्ति के सृजन में सृजन का सुख मिलता है। अब वह रचना चाहे साहित्य की कृति हो या मूर्ति या चित्र यहां सभी में अभिव्यक्ति की स्थिति और प्रक्रिया एक ही होती है। श्रेष्ठ आत्माभिव्यक्ति को रचनाकार के व्यक्तित्व की पूर्ण सफलता माना गया है। आत्माभिव्यक्ति के लिए आवश्यक तत्वों में रचनाकार में भावनाओं की कोमलता, शक्ति, सामंजस्य, सूक्ष्म-ग्राह्यता, अनुभूति क्षमता आदि होना जरूरी है।

"साहित्य अपने शुरू रूप में अहं का विसर्जन है।" इसलिए आत्माभिव्यक्ति की निश्छलता ही साहित्य का पहला और अनिवार्य लक्षण है। अतः समाज के व्यक्ति में और व्यक्ति के समाज में रूपान्तरित होने के साथ-साथ रचना में आत्म रूपांतरण भी होता है। जिसे आत्माभिव्यक्ति कहते हैं।

रचना किसी एक ही समय के, एक ही घटना के उद्वेग से रचित नहीं होती, बल्कि रचनाकार के अनेक अनुभवों, वस्तुओं घटनाओं के सम्मिश्रण के फलस्वरूप व्यक्त होती है रचनाकार जिस घटना, परिस्थिति और वस्तु के संबंध में जो नियति रखता है वह उसकी कृति में स्वतः ही स्थान पर जाती है अतः रचना में बाह्य जगत के साथ रचनाकार

का निजी व्यक्तित्व भी सदैव मूर्तिमान होकर अभिव्यक्त होता है। रचना की उत्पत्ति के संबंध में प्रसिद्ध आलोचक डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं कि "यह प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से उत्पन्न होती है। कहीं बाहर से जानबूझकर प्राप्त नहीं की जाती। व्यक्ति का आत्मनिर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उसमें कामवृत्ति का प्राधान्य है। अतएव व्यक्ति में होने वाला आत्म अनात्म संघर्ष मुख्यतः काममय है। पश्चिमी मनोविज्ञानी फ्रायड, एडलर, जुंग आदि ने तो रचना के मूल में कामवृत्ति को माना है। उनके अनुसार समस्त कलाओं की आधार भूमि काम की प्रवृत्ति का प्रस्फुटन है। अतः समस्त कलाओं का मूल काम है। यह सर्वथा सत्य नहीं है। एक संवेदनशील व्यक्ति अपने आस-पास की प्रत्येक घटना के प्रति सजग होता है। वह अपने परिवेश से अभिन्न रूप से हृदय और बुद्धि दोनों रूपों में जुड़ा रहता है। रचनाकार और उसका परिवेश उसकी आत्म अनुभूति में जीवंत होती है। रचनाकार प्रत्येक घटना परिस्थिति से प्रभावित होकर अपने आत्मसंघर्ष को आत्माभियक्ति के रूप में रचना में प्रकट करता है।

रचना और सृजनात्मकता

साहित्य मानव जीवन की जातीय स्मृतियों का अंकन है, उसमें मनुष्य के इतिहास और उसके द्वारा किये गये समस्त सामाजिक क्रियाकलापों का लेखा-जोखा होता है। रचना मनुष्य की आत्मोपलब्धि है इसलिए वह मानवीय आचरण के सर्वोत्कृष्ट पक्ष को प्रस्तुत करती है। रचना रचनाकार के उच्चतर अनुभवों का कलात्मक प्रकाशन है।

साहित्य समाज से आता है और पुनः समाज को प्रभावित करता है। रचनाकार अपनी कृति के द्वारा जिस समानान्तर समाज की रचना की रचना करता है वह जीवन के प्रति उसकी सापेक्ष कल्पना दृष्टि है इसमें वह जिस समय की रचना में तल्लीन होता है उस समय के समाज मूल्यों का निर्धारण करता है।

साहित्य समाज का एक सांस्कृतिक अंग होता है। वह उस व्यवस्था से, समाज से प्रभावित होता है और उसे प्रभावित करता है। साहित्य का संबंध शब्द से है और शब्द सृजन व्यापार का प्रारम्भिक बिन्दु है, शब्द से सृष्टि का जन्म हुआ है। शब्द में सृष्टि विलीन हो जाती है जैसे नाद ब्रह्म को सृष्टि का आरम्भ माना गया है। रचना की सर्जना सृष्टि की सर्जना से जुड़ी है, अग्निपुराण में तो कवि को ब्रह्म सहोदर कहा गया है। संसार का रचनाकार ईश्वर है साहित्य का रचयिता मनुष्य है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि संसार एक सतत कविता है तो उससे ही उद्‌भूत भाषागत कविता मनुष्य की सृजन चेष्टा का उच्चतम परिणाम है।यही कारण है कि कवि को प्रजापति का स्थान दिया गया है। यद्यपि कवि या साहित्यकार अपने मन के संसार रचने के लिए स्वतंत्र है। परन्तु काव्य की सृजनात्मक शक्ति सामाजिक दृष्टि से ही प्रौढ़ होती है। साहित्य की समस्त सृजनात्मक शक्तियां समाज से ही प्रस्फुटित होती है। रचनाकार तो मात्र एक माध्यम होता है। वह सामाजिक गतिविधियों क्रिया कलापों को यद्यपि स्वयं भोक्ता बनकर अपने कला माध्यमों

के द्वारा प्रस्तुत करता है किन्तु उसकी रचना निरी वैयक्तिक नहीं रहती। उसके अनुभव उसकी संवेदना उसकी भाषा सामाजिक चेतना से परिपूर्ण होते हैं, इसी कारण रचना में सम्प्रेष्णीयता का गुण आता है। और इसी कारण रचना समाज की होती है। सृजनात्मक का लक्ष्य का लक्ष्य भी प्रमुखता यही होता है। कि वह व्यक्ति द्वारा रची जाकर समाज के आस्वादन योग्य हो। और समाज उसमें अपना अनुभव तलाशने लगे।इस तरह रचना व्यक्ति द्वारा रची जाकर समाज के आस्वादन योग्य हो। और समाज उसमें अपना अनुभव तलाशने लगे। इस तरह रचना व्यक्ति की होते हुए भी समाज की बन जाती है। संवेदना, शिल्प और भाषा इन तीनों स्तरों पर रचना समाज की सृजनात्मकता शक्तियों से रचनापूर्ण होती है अनुभूति मनुष्य का नैसर्गिक और प्रकृति प्रदत्त गुण है इसलिए वह दूसरे के अनुभव जगत में प्रवेश कर सकता है और अपने अनुभव जगत को विस्तारित करके अपनी व्यक्तिगत सीमाओं से मुक्त करके उसे व्यापक समाज के अनुभव जगत में प्रवेश कर सकता है और अपने अनुभव जगत को विस्तरित करके अपनी व्यक्तिगत सीमाओं से मुक्त करके उसे व्यापक समाज के अनुभव जगत का हिस्सा बना सकता है। असल में अभिव्यक्ति प्रक्रिया का मुख्य काम अनुभव और विचार को अधिक सार्थक, साधन और प्रभावी बनाना है। सृजन करता हुआ रचनाकार अनुभव और विचार के माध्यम से सार्थक सघन एवं प्रभावी रचना प्रस्तुत करना चाहता है। रचनाकार अपने-अपने चारों ओर के जीवन से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता रचनाकार जिस जीवन को अपने चारों ओर हिलोरें मारता हुआ देखता है उसी से वह प्रेरणा पाता है उसका संसार कोई अदृश्य संसार नहीं है। अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हुए भी उसकी भावनाओं को संसार निरन्तर बाह्य जगत की घटनाओं से प्रतिध्वनित होता है।

भावानुवेश की क्षमता सृजनात्मकता से ही संभव होती है व्यक्ति की सीमाओं को लांघकर समष्टि में समाहित होना ही सृजनात्मकता का अनिवार्य लक्षण है जरूरी केवल यह है कि लेखक का व्यक्तित्व सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न हो। ऐसी सम्पन्नता वही लेखक पा सकता है जिसकी जीवन के प्रश्नों में गहरी रूचि हो, जिसमें तीखी और बड़ी जिज्ञासायें हो और जिसमें प्रश्नों का समाधान पाने की छटपटाहट हो। रचना संवेदना की सृजनात्मकता में सामाजिक अनुभव बन जाती है, साहित्य मनुष्य को अकेला नहीं रहने देता मनुष्य साहित्य के माध्यम से निरन्तर आत्मविस्तार करता रहता है अपने आत्मविस्तार की प्रक्रिया में वह निरंतर समाज के करीब आता जाता है। सृजन से पहले आकांक्षा जागृत होती है। फिर प्रसव वेदना, सृजन में भावना का दबाब पड़ता है जो रचनाकार की सामाजिकता का प्रतिफलन होती है सृजन वैयक्तिक नहीं सामाजिक होता है।

साहित्य में सामाजिक मूल्य

मुक्तिबोध के अनुसार ''जो परिवार के मूल्य होंगे वे जीवन में होंगे और वे साहित्य में भी उतरेंगे हाँ यह सही है कि साहित्य में आकर इनकी रूप रेखा बदल जायेगी लेकिन उनके तत्व कैसे बदलेगें। जिन्दगी के जो रूप हैं जो रवैये हैं। जो 'एटीट्यूडस' है वे साहित्य में अवश्य प्रकट होंगे।''[14]

इस प्रकार 'मुक्तिबोध' ने साहित्य को मूल्य समन्वित रचना माना है। साहित्य के रास्ते ही जीवन के तत्व और मूल्य की अभिव्यक्ति ग्रहण करते हैं।"साहित्य आवश्यक रूप से सामाजिक जीवन से प्रेरित और सम्बद्ध होता है।" इसी के द्वारा जीवन के मूल्य साहित्य में स्थान पाते हैं। साहित्य में सामाजिक मूल्यों को समकालीन राजनीति, अर्थ, धर्म तथा संस्कृति भी गहरे स्तर पर प्रभावित करते हैं। आज का युग विज्ञान का युग है विज्ञान ने मानव जीवन में अभिन्न जगह बना ली है इसलिए विज्ञान का भी सामाजिक और साहित्यिक परिवेश पर असर होना स्वाभाविक है। मूल्य भी दो प्रकार के होते हैं व्यावहारिक मूल्य। इनमें व्यवहारिक और सामाजिक मूल्य साहित्य के मूल्यों का रूप धारण करते हैं।

अतः कहा जा सकता है कि साहित्य के मूल्य जीवन और समाज के मूल्यों के समान्तर चलते हैं। किन्तु मूल्यों की निर्माण संस्था समाज ही है। रचनाकार इन मूल्यों का परीक्षण, परिशोधन करके उनके परिष्कृत रूप को रचना में अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

रचना और बाह्य संसार

बाहर का संसार ज्यों ही हमारे भीतर प्रवेश करता है वह एक दूसरे ही संसार में परिवर्तन हो जाता है। इस दूसरे जगत में बाहर के जगत के विभिन्न रूप रंग और ध्वनि आदि ही नहीं होते है अपितु उसमें व्यक्तिगत रूचि हमारा अच्छा बुरा अनुभव, हमारा भय, विस्मय और हमारा सुख-दुख आदि भी उसमें शामिल हो जाता है। यह बाहर का संसार हमारे मानसिक भावों के साथ मिलकर अनेक रूपों में प्रकाशित होता है। जिसे हम कविता या रचना या साहित्य कहते हैं रचनाकार अपने बाह्य संसार को अपनी मानसिक भावनाओं में जब आत्मसात कर उनसे एकाकार कर उन्हें पुनः अभिव्यक्त करता है जिसमें वह स्वयं भी व्यक्त होता है। "जिस तरह जिनके उदर में पाचक रस पर्याप्त मात्रा में नहीं होता वे खाद्य पदार्थ को अच्छी तरह अपने शरीर की वस्तु नहीं बना सकते। उसी तरह जिनके हृदय की भावनाओं में आत्मसात करने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में नहीं होती वे बाह्य जगत को अन्दर का जगत अपना जगत अर्थात मानुषीय जगत नहीं बना सकते।" ऐसी स्थिति में व्यक्ति के भीतर रचना के मूल में बाह्य समाज का रूपांतरण तो संभव है ही नहीं बल्कि स्वयं व्यक्ति का भी रचना में अभिव्यक्त होना संदिग्ध रहता है। प्रत्येक रचनाकार की अनुभूति और अभिव्यक्ति का कैनवास भिन्न होता है। रचनाकार के हृदय में बाहर का समाज और प्रकृति जिस सीमा तक ध्वनित होती है रचना भी उसी परिधि में विचरण करती है।" अतः साहित्य एक प्रतिभाशाली व्यक्ति के मुक्त का उत्कृष्ट लिपिबद्ध लेखा है।" जो उसके निजी व्यक्तित्व के साथ-साथ समकालीन समाज के सन्दर्भों प्रकृति से उसके संबंधों को रचना के रूप में अभिव्यक्ति प्रदान करता है। "व्यक्तिगत साधना को भी सामूहिक साधना में बदल देने का कार्य साहित्य करता है।" "रचना केवल कहना या अभिव्यक्त करना ही नहीं बल्कि सन्दर्भों को अपना बनाकर हृदय और मस्तिष्क के साथ उसका योगकर अभिव्यक्त करना है।" साहित्य समूचे और सर्व सामान्य मनुष्य से

संबंध रखता है। रचनाकार का मनुष्य होना ही इस बात के लिए पर्याप्त है कि रचना का संबंध मनुष्य से होता है। क्योंकि रचनाकार भी प्रकृति का एक अभिन्न अंग है। मनुष्य प्रकृति और समाज से अलग होकर रचना करना संभव नहीं है। क्योंकि आध्यात्म की सत्ता भी मनुष्य प्रकृति और समाज से पूर्णतः अलग नहीं होती। इस प्रकार रचना जीवन और जगत की क्रीड़ा स्थली होती है जिसमें रचनाकार अपनी जीवनानुभूति और जगत से बचकर नहीं निकल सकता। रचना का बीज रचनाकार के हृदय में अंकुरित होकर फलीभूत अवश्य होता है किन्तु वह खाद, पानी प्रकृति और समाज से ही प्राप्त करता है।

निष्कर्ष

समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार है और परिवार की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति। अतः व्यक्ति परिवार और समाज दोनों का केन्द्र बिन्दु है इसलिए व्यक्ति, परिवार और समाज दोनों का सदस्य होता है और दोनों से गहरे स्तर पर प्रभावित भी होता है परिवार और समाज के मूल्य और मान्यता, आवश्यकताएँ और कठिनाईयां उत्तरदायित्व, अधिकार और कर्त्तव्य, प्रेम और स्नेह, दया, घृणा और जुगुप्सा, हास-परिहास विनोद, विसंगतियां और विरोध अभाव आदि एक व्यक्ति के स्तर पर रचनाकार के जीवन को भी प्रभावित करते हैं। और रचनाकार की अनुभूति का कारण बनते हैं। उपरोक्त कारकों को संतुलित निर्धारित करने का कार्य संस्कृति और साहित्य का है। संस्कृति और साहित्य दोनों परिवर्तनशील होते है। साहित्य अन्य कार्यों के अलावा समाज और संस्कृति के पहरेदार की भूमिका भी निभाता है समाज का सत्य व्यक्ति सत्य से टकराकर अभिव्यक्ति का कारण बनता है। इसलिए रचनाकार का संघर्ष अप्रत्यक्षता समाज के मूल्यों, मान्यताओं और विषमताओं, विसंगतियों का संघर्ष बन जाता है। जैसे निराला, मुक्तिबोध, धूमिल, रघुवीर सहाय, दुष्यंत कुमार आदि आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख कवियों की रचनाओं में इस संघर्ष ने मार्मिक और तीखी अभिव्यक्ति पायी है।

रचनाकार यदि जीवन के उज्जवल पक्षों को रचना में अभिव्यक्ति देता है तो उसके यहां जीवन की विदूपतायें और विसंगतियां भी अभिव्यक्ति पाती है। (मुहरों की लालच में लिखे गये रीतिकालीन साहित्य के कुछ भाग को छोड़कर) सामान्यतः रचनाकार जो देखता है अनुभूत करता है, उसको अपनी समझ के धरातल पर हृदय और बुद्धि से एकाकार कर भरसक सच लिखने या रचने की कोशिश करता है और अपनी क्षमता भर वह अनुभूति को शब्दों में परिवर्तित करता है। यही वह प्रक्रिया है जहां रचना में व्यक्ति के साथ समाज का आवश्यक रूपान्तरण होता है क्योंकि रचना आती भी समाज से ही है। और जाती भी समाज में ही है। रचनाकार अप्रत्यक्षतः कुछ सवालों से भी जूझता है जैसे क्या है? क्या हो रहा है? क्या हो सकता है? और क्या होना चाहिए? इन्हीं सब प्रश्नों के भीतर आवश्यकतानुसार समाज और व्यक्ति रचनाकार में घटित होता है। इस प्रकार रचित समाज में रचनाकार के भीतर का समाज साकार हो उठता है, यह समाज रचनाकार के भीतर धीरे-धीरे एकत्रित होता है और आवश्यकता पड़ने पर अनुभव के रूप

में जाग उठता है, यह वह समाज है उसने भोगा है, जाना है। अतः व्यक्ति की अन्तः और बाह्य प्रतिक्रियाएं मिलकर एक नये रचनाकार के दूसरे समाज का निर्माण करते हैं जो वास्तविक समाज का आदर्श समाज होता है।

अतः जीवन और जगत की प्रत्येक अनुभूति रचनाकार व्यक्ति के मनोमस्तिष्क पर अपने प्रभाव अंकित करती है यही प्रभाव रचना के कारण बनते हैं। समाज संस्कृति और समय के दायरे में रचनाकार का जीवन विचरण करता है, इसलिए रचना का इनसे बचकर निकलना मुश्किल है। आदिकाल, रीतिकाल, भक्तिकाल, छायावाद और आधुनिक काल (हिन्दी काव्य,उपन्यास, नाटक और कहानी) साहित्य युगों की रचनाओं पर तत्कालीन समाज और संस्कृति के प्रभाव स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

रचनाकार रचना में अपने समय और समाज से असहमति के कारण ही अपने से बहुत आगे और बहुत पीछे तक के समय को अपने भीतर अनुभूत कर घटित होते देख लेता है, रचना इसी असहमति का 'पॉजेटिव' परिणाम है।

अतः इस विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि रचना में व्यक्ति में समाज का रूपांतरण होता है। समाज में रचनाकार का रूपांतरण नहीं होता। रचनाकार में समाज का रूपांतरण होता है जो रचना के प्रणयन में व्यक्ति के रूपांतरण के साथ अभिव्यक्ति पाता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची -

1. निबंध नवनीत/पृष्ठ-62/नगेन्द्र
2. साठोत्तर हिन्दी नाटकों की सामाजिक चेतना/जय श्री शुक्ला/पृ. 10
3. '' '' ''वही/पृ. 29
4. साहित्य की सामाजिक भूमिका/देवेश ठाकुर/पृ. 34-35
5. '' '' ''वही/पृ. 35
6. साहित्य का परिवेश/अज्ञेय/पृ. 104-105 (नेशनल पब्लिशिंग हाउस 1985)
7. '' '' ''वही/पृ. 105
8. आधुनिक हिन्दी साहित्य में सामाजिक चेतना/रत्नाकार पाण्डेय
9. साहित्य सहचर/हजारी प्रसाद द्विवेदी
10. साहित्य शास्त्र/रामकुमार वर्मा
11. निबंध नवनीत/62
12. साठोत्तर हिन्दी नाटकों की सामाजिक चेतना/जयश्री शुक्ल/पृ. 10
13. निबंध नवनीत/पृ. 63/डॉ. नगेन्द्र
14. साहित्य की सामाजिक भूमिका/देवेश ठाकुर पृ. 72

◆◆◆



अमन प्रकाशन
सागर - 470002 (म.प्र.)
मोबाइल : 9826434225

9789380296432